# भारतीय दर्शनपरम्परा

# और

# साहित्यदर्शन





राजकिशोर मणि त्रिपाठी

संस्कृत-सेवा-संस्थान
सी/१८६/१५६, खुर्रमपुर
गोरखपुर—२७३००५

१. पुस्तक का नाम भारती

२. विषय दर्शन

३. प्रकाशक का नाम,पता सं

मी

४. लेखक का प्रमाणपत्र मैं

मा

(ख)

(ग)

# भारतीय दर्शनपरम्परा और साहित्यदर्शन

राजकिशोर मणि त्रिपाठी

संस्कृत-सेवा-संस्थान
सी/१८६/१५६, खुर्रमपुर
गोरखपुर–२७३००५

प्रकाशक:—
**संस्कृत-सेवा-संस्थान**
सी/१८६/१५६, खुर्रमपुर
गोरखपुर २७३००५



●



●

वितरक:—
**मोतीलाल बनारसीदास**
पो० बा० नं० ७५, चौक
वाराणसी

**विश्वविद्यालय प्रकाशन**
विशालाक्षी भवन, चौक
वाराणसी

●

संस्करण प्रथम (१९८५)
मूल्य : १५-०० (अजिल्द)
२२-०० (सजिल्द)

●

मुद्रक :
**शाही प्रिन्टिङ्ग प्रेस**
पाण्डेहाता रोड,
गोरखपुर।

## —:समर्पणम्:—

प्रणेताव्यवहर्तृभ्यां शुभं साहित्यदर्शनम्,
वाल्मीकिकालिदासाभ्यां ग्रन्थोऽसावर्प्यते मया ।।

त्रिपाठिना राजकिशोरमणिना

# विषयसूची

—:०:—

## सङ्केतविवरणम्

| | | | |
|---|---|---|---|
| अ० शा० | अभिज्ञान शाकुन्तल | प्रपञ्चसारतं० | प्रपञ्चसारतन्त्र |
| अथ० | अथर्ववेद | भ० ना० | भरतनाट्यशास्त्र |
| ईशा० | ईशावास्योपनिषद् | भा० प्र० | भावप्रकाशन |
| उ० रा० | उत्तर रामचरित | भाव प्र० | भावप्रकाशन |
| ऋ० सं० | ऋक्संहिता | रघु० | रघुवंश |
| का० प्र० | काव्यप्रकाश | वा० | वाल्मीकि रामायण |
| का० मी० | काव्यमीमांसा | वा० प० | वाक्यपदीय |
| किरा० | किरातार्जुनीय | वा० प० वृ० | वाक्यपदीयवृत्ति |
| कु० स० | कुमारसम्भव | व्य० वि० | व्यक्तिविवेक |
| चन्द्र० | चन्द्रप्रभचरित | शिशु० | शिशुपालवध |
| तै० उ० | तैत्तिरीयोपनिषद् | शृ० प्र० | शृङ्गार प्रकाश |
| ध्वन्या० | ध्वन्यालोक | श्रीमद्भा० | श्रीमद्भागवत |
| ना० शा० | नाटयशास्त्र | श्लो० वा० | श्लोकवार्तिक |
| नैष० | नैषधीयचरित | सा० द० | साहित्यदर्पण |
| पा० शि० | पाणिनीयशिक्षा | सौन्द० | सौन्दरनन्द |

## —:● प्रणतिः ●:—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

एकदा नागार्जुन बौद्ध प्रतिष्ठान द्वारा आयोजित अखिल भारतीय परिसम्वाद गोष्ठी में व्याख्यान देते हुये मैंने **लोकदर्शन अथवा साहित्यदर्शन** की शाश्वत स्थिति पर कुछ चर्चा की थी। इस वर्ष गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा समायोजित व्याख्यानमाला में पुनः साहित्यदर्शन को व्यवस्थित करने की आवश्यकता पर मैंने अपना विचार व्यक्त किया। अनन्तर हृदय से साहित्य के उपासक मेरे शिष्य डा० दशरथ द्विवेदी, रीडर, संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ने मुझसे आग्रह किया कि साहित्यदर्शन पर अपने विचारों को मैं लिपिबद्ध कर दूं।

यद्यपि 'मेरे लिये यह एक असामयिक कार्य है' ऐसा मानकर अभी मैं इधर प्रवृत्त होना नहीं चाहता था; कारण स्पष्ट है, किसी भी नये विचार का उस काल में स्वाभाविक विरोध होता है एवं वर्तमान में उससे प्रसन्नता के स्थान पर अवसाद की प्राप्ति होती है भले ही उसका लाभ पश्चाद्भावी मठाधीश उठाया करें; तथापि डा० द्विवेदी की बात को इतने अंश में मैंने मान लिया कि पूर्वभूमिका के रूप में इस विषय पर कुछ लिख ही दूं। इसी का परिणाम यह पुस्तक है। इसमें प्रायः प्रमुख दर्शनों के मुख्य सिद्धान्तों का कालक्रम से संक्षिप्त विवेचन किया गया है। यह इसलिये आवश्यक था कि हम यह जान सकें कि इन दर्शनों का परस्पर में क्या सम्बन्ध है तथा किस आवश्यकता के वशीभूत होकर विभिन्न समयों में लोक ने इन दर्शन सिद्धान्तों को मान्यता दी थी। इसके बाद साहित्यदर्शन का स्वरूप निरूपित किया गया है।

साहित्यदर्शन में भी दो बातें विचार करने योग्य हैं। प्रथम यह कि अब तक साहित्य में क्या विचार किया गया है तथा द्वितीय यह कि क्या साहित्य के पास भी उसी प्रकार से विचार करने की सामग्री है जिस प्रकार अन्य दर्शन करते हैं। इसके साथ ही साहित्यदर्शन का वैशिष्ट्य भी विचारणीय है। इन्हीं विषयों पर इस पुस्तक में कुछ-कुछ विचार किया गया है। विद्वानों की प्रवृत्ति जानने के बाद व्यवस्थित रूप में पुनः विस्तरतः इस पर विचार किया जायेगा।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में शाही प्रिन्टिग प्रेस, रायगंज दक्षिणी, गोरखपुर के स्वामी एवं कर्मचारियों ने जो सहयोग दिया है, तदर्थ मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। पर इतना अवश्य कहूंगा कि पर्याप्त सावधानी बरतने पर भी मुद्रण दोष आ ही गये हैं। कुछेक वर्णों के साथ हलन्त शब्दों के चिह्न प्रायः नहीं उभड़ पाये, ब और व की अशुद्धियाँ रह गयीं, अनुस्बार और अनुनासिक का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया तथा अनेक स्थानों पर प्रूफ देखने में भी अशुद्धियाँ रह गयीं जैसे—महिम्ना के स्थान पर महिम्रा तथा सर्वविद्यानाम् के स्थान पर सर्वाविद्यानाम्। फलत अशुद्धि संशोधन के लिये अलग से पत्रक लगाना उचित था पर वह इसलिये नहीं लगाया कि पाठक इसे स्वयं समझ लेंगे कि यदि कहीं जगत् छपा है और वहीं जगत भी छपा है तो दोनों रूपों में कौन शुद्ध है।

अस्तु, दर्शन तथा साहित्य के विशेषज्ञ पाठकों से मैं आशा करता हूं कि इस पुस्तक में लिखित सिद्धान्तों के औचित्य तथा अनौचित्य पर वे कुछ सुझाव अवश्य देंगे। अन्त में सहृदयधुरीण आनन्दवर्धन के एक श्लोक के अन्तिम दो चरणों को परिवर्तित कर सम्प्रति मैं विद्वद्गण से यही कहूंगा कि—

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा,  
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।  
सम्यग्द्वेऽप्यवलम्ब्य काव्यविषयं निर्वर्णयन् साम्प्रतं,  
स्वीयं ग्रन्थममुं प्रणम्यविदुषां प्रीत्यायुपस्थापये॥

कृष्णेन्द्रराज भवन  
सी/१८६/१५६ खुर्रमपुर,  
गोरखपुर २७३००५

राजकिशोर मणि त्रिपाठी

विभाकरं गणेशञ्च गौरीं मृत्युञ्जयं तथा,
नारायणं हनूमन्तं श्रेयसे प्रणमाम्यहम् ।
द्वादशाध्यायरूपस्य ग्रन्थस्य परिपूर्तये,
प्रेरयित्रे धियोऽस्माकं द्वादशात्मन्नमोऽस्तु ते ॥

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

# भारतीय दर्शनपरम्परा और साहित्यदर्शन

## पूर्वार्द्ध

## पुरोवाक्

'सृष्टि की प्रक्रिया कितनी पुरानी है' इसका इदमित्थम् ज्ञान सम्प्रति सर्वथा असम्भव है। वर्तमान काल में वैज्ञानिकों ने अपनी रीति से इसका निर्द्धारण किया है पर वह कितना सत्य है, यह कहना अभी कठिन है। भारतीय कालगणना के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया का प्रारम्भिक समय निश्चित किया जाता है पर सम्प्रति पर्याप्त वैज्ञानिक साधनों के अभाव में वर्तमान वैज्ञानिकों को उसमें आपत्ति दिखाई पड़ सकती है। फलतः सर्वमान्य सिद्धान्त को अपने स्वरूप में आने में अभी विलम्ब है। किन्तु इतना तो अवश्य सत्य है कि सृष्टिप्रक्रिया अरबों वर्ष प्राचीन है।

'इस सृष्टि में पदार्थों की उत्पत्ति किस क्रम से हुई है' यह भी विसम्वाद की वस्तु है। पर यहां भी इतना सत्य है कि वर्तमान में हम जो कुछ देख रहे हैं, उससे मन में एक विचित्र आश्चर्य का आविर्भाव होता है। कहीं ऊंचे पर्वत, कहीं अगाध समुद्र, कहीं मरुस्थल तथा कहीं सस्यश्यामला धरित्री। ये सब मन में विस्मय उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार प्राणियों की जातियां भी आश्चर्य को उत्पन्न करती हैं। मनुष्य से लेकर नानाविध पशु, विचित्र पक्षीजगत् तथा कीटजगत् सभी तो आश्चर्य के उत्पादक हैं। भूमि के नीचे होने वाली धातुप्रक्रिया तथा स्वयं भूमि की संरचना भी कम आश्चर्य नहीं उत्पन्न करती है। इसके साथ ही जलवेष्टित भूमि का अनन्त आकाश में घूमना, इसका अपना सौरमण्डल तथा अनन्त सौरमण्डलों का एक नियमित क्रम में आकाश में अवस्थिति, किसी भी विचारक को उद्वेलित करने में पर्याप्त सक्षम हैं।

यह भी एक आश्चर्य का विषय है कि मनुष्य ज्योंही कुछ-कुछ सोचना प्रारम्भ करता है, उपर्युक्त गुत्थियां उसके समक्ष उपस्थित हो जाती हैं तथा वह समाधान ढूंढने लगता है। यह ही एक ऐसा विन्दु बनता है जिसकी सहायता से अनेकानेक शास्त्रों का जन्म हुआ है। ये सभी शास्त्र मानव बुद्धि की प्रखरता तथा उत्तमता के द्योतक होते हैं। पदार्थशास्त्र, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, गणित आदि अपनी-अपनी रीति

से एक दूसरे के पूरक होते हुये विश्व की गुत्थियों के सुलझाने में लगे हुये हैं। इन शास्त्रों के आविर्भाव-काल का निर्द्धारण भी उतना ही कठिन है, जितना सृष्टिकाल का निर्द्धारण। फिर भी इनमें तारतम्य बनता है।

इसी प्रसङ्ग में दर्शनशास्त्र की भी चर्चा आती है। दर्शनशास्त्र भी विश्वगत गुत्थियों को सुलझाने में अपने ढंग से प्रवृत्त है। देशकाल भेद होने पर भी सर्वत्र दर्शन का प्रचार होना दृष्टिगत होता है। पर दार्शनिक सिद्धान्तों में पर्याप्त भेद होने से यह सोचने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि ये दर्शनसिद्धान्त क्या उस स्थिति में अवस्थित हैं. जहां इन्हें सर्वमान्य होने की उपाधि प्राप्त है ? इसका उत्तर नहीं में आता है। फिर भी मनुष्य मस्तिष्क की यह विवशता है कि वह इससे विरत नहीं हो सकता है। प्रयत्न चलता रहा है तथा चलता रहेगा। अन्य देशों में प्रादुर्भूत दर्शन को यदि हम छोड़ भी दें तो भी कोई अन्तर नहीं आने वाला है, क्योंकि भारत में ही अनेक दर्शन प्रचलित हैं। निश्चित रूप से इनकी संख्या का विस्तार एक दिन का कार्य नहीं है। इससे यह भी सिद्ध है कि इनकी संख्या भविष्य में बढ़ भी सकती है। इसके साथ ही यह भी मानना होगा कि कहीं न कहीं इन सबमें एकता भी हो सकती है। क्योंकि इन सभी दर्शनों का मूलतः उद्देश्य एक है—सृष्टि के रहस्य को समझना। यदि इनके पार्थक्य तथा ऐकात्म्य का परिशीलन किया जाय तो एक ऐसे दर्शन की भी उत्पत्ति हो जाती है. जो संख्या को तो बढ़ाती है पर इनमें पर्याप्त निकटता का भी दर्शन कराती है। 'संख्या का बढ़ाना' यह कहना भी कदाचित् उचित नहीं है, अपितु, यह कहना अधिक उचित होगा कि वही एक ऐसा दर्शन है जिससे सभी दर्शन प्रसूत हैं। वह दर्शन क्या है—यदि ऐसा कोई जानना चाहे तो स्पष्ट उत्तर बनता है—**साहित्य दर्शन अथवा लोक दर्शन**। यह साहित्य दर्शन अत्यन्त प्राचीन, चिरानुभूत, साथ ही अधुनातन तथा सद्योनुभूत भी है। इसको स्पष्टतः समझने के लिये हमें कुछ प्रारम्भिक विषयों का पुनः परिशीलन करना होगा।

## दर्शन की परिभाषा—

'दृश्यते यथार्थतत्त्वम् अनेन' इस व्युत्पत्ति से अर्थतत्त्व का साक्षात्कार जिससे हो वह दर्शन कहलाता है। अर्थात् अर्थतत्त्व को समझने में अपेक्षित सामग्री दर्शन पद से गृहीत होती है। इसीलिये साधन रूप में गृहीत शास्त्र दर्शन कहलाते हैं। 'दृष्टिर्दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति से साधनगृहीत सिद्धान्त भी दर्शन कहलाते हैं। इन दोनों दृष्टियों से दर्शनों की परिकल्पना की गई है। इन दर्शनों में युक्तियों की मुख्य भूमिका होती है, इसलिये कह सकते हैं कि **युक्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न एवं प्राप्त तत्त्वज्ञान दर्शन है।**

## दर्शन की व्यापकता तथा सङ्कोच—

उपरिलिखित व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थतत्त्व के ज्ञान में साधन मात्र को दर्शन कहलाने के कारण तथा उन साधनों से किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुंचने के कारण ज्ञान के विषय सभी शास्त्र एवं उनके सिद्धान्त दर्शन कहलायेंगे पर निरुक्त के अर्थ सङ्कोच रूप नियम के कारण एक विशेष प्रकार का शास्त्र ही दर्शन कहलाता है तथा उसकी ही दृष्टि दर्शनपदव्यपदेश्य होती है। संक्षेपतः यह कहना अधिक उपयुक्त है कि केवल वे ही शास्त्र दर्शनशास्त्र की अभिख्या धारण करनेमें समर्थ होते हैं जिनमें समष्टि रूप में केवल अदृष्ट जगत, दृष्ट जगत, जगदुत्पादक, उत्पाद्योत्पादकसम्बन्ध, जगत् का पूर्वरूप तथा जगत् के पर्यवसान का विचार होता है। फलतः भारतीय दृष्टि से चार्वाक, महावीर, बुद्ध, कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणाद, जैमिनि तथा व्यास के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही मुख्यतः दर्शन की कोटि में आते हैं। यहां दर्शन शब्द रूढ होता है। परन्तु यह कोई ऐसी मान्यता नहीं है कि जिसका उल्लंघन न हो सके। अर्थ विस्तार की दृष्टि से अर्थात यौगिक रूप में दर्शन की संख्या बढ़ जाती है। यहां उन शास्त्रों की भी परिगणना इसमें हो जाती है जो प्रसंगवशात भी इन सिद्धान्तों का कादाचित्क विश्लेषण करते हैं। फलतः श्रौत दर्शन, व्याकरण दर्शन, वैष्णव दर्शन, शैव दर्शन, शाक्त दर्शन आदि भी अपने भेदों के साथ इनमें परिगृहीत हो जाते हैं।

यहां ध्यान रखना चाहिये कि बहुत पहले दर्शन का इस प्रकार से विभाजन नहीं होता था। आचार्य पाणिनि ने दर्शन शब्द का प्रयोग किये बिना लोकायत, न्याय तथा मीमांसा की चर्चा की है। वर्तमान काल में जिस अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग हो रहा है उन सभी के लिये आन्वीक्षिकी अथवा न्याय शब्द का प्रयोग होता था। पुष्पदन्त के 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति, प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च' से सिद्ध है कि प्रस्थान शब्द का भी इसी अर्थ में प्रयोग होता था। भर्तृहरि के—

'न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः'

से भी यह सिद्ध है। मत अर्थ में दर्शन का प्रयोग बहुधा होता था।

## दर्शनभेदहेतु--

जहां जगत् के विषय में विचार करने के कारण दर्शन अपने रूप को धारण करता है वहाँ इसके विचारकों की कोटि कैसी है, यह भी विचारणीय है। स्वरूपतः

देशकाल भेद के कारण सामान्य शारीरिक परिवर्तन रहने पर भी मनुजाति में उत्पन्न होने के कारण मानव एक जैसा ही होता है। फिर भी दुर्लङ्घ्य शारीरिक भेद से सहजोपलब्ध समाज विशेष में जात मानवों में स्वभावतः आचारभेद रहता ही है। यह आचारभेद ही उनके धर्म के स्वरूप को नया आयाम देता है। फलत धर्म विशेष से व्याप्तमानस मानवों में जब जगदादि सम्बन्धी विचार उत्पन्न होते हैं तो उनकी चिन्तन पद्धति के भेद के कारण दर्शन में भेद उत्पन्न होने लगता है। परिणामस्वरूप धार्मिक मतभेद के कारण दर्शनों का भेद बन जाता है। **इस अंश में दर्शन धर्म का अनुवर्तन करने लगता है।** इसीलिये वर्तमान काल में कुछ वैदेशिक दर्शन अर्थप्रधान दर्शन की कल्पना कर बैठे हैं, क्योंकि वहां के समाज में धर्म को अब पूर्ववत् स्थान नहीं प्राप्त है। पर ऐसा भी सम्भव है कि निरूढ धर्म को छोड़कर व्यापक रीति से सर्वमान्य मानव धर्म की यदि परिकल्पना हो सके तो एक ऐसा भी दर्शन अपने स्वरूप में आता है, जहां मौलिक मतभेद की आशङ्का ही नहीं हो सकेगी। ऐसा दर्शन एक है और वह है साहित्य दर्शन।

जगत में स्थूलरूप से सचेतन और अचेतन भेद के कारण जगदादि विचार करते समय कुछ दर्शन प्राधान्येन चेतनप्रधान तथा कुछ अचेतनप्रधान भी होते हैं। इसी लिये कुछ को जडवादी तथा कुछ को आत्मवादी दर्शन कहा जाता है। पर प्रायः विचारकों की दृष्टि इस ओर कम ही गई है कि आत्मवादी दर्शनों में भी सहृदयता का पक्ष कितना प्रबल है। यदि सहृदयता के पक्ष का लें तो एक ऐसे दर्शन की परिकल्पना हो सकेगी जो मात्र सिद्धान्त रूप में ही नहीं, अपितु, कार्यरूप में भी समस्त जगत को आत्मवत् देख सकेगा। यहां ही साहित्य दर्शन का बीज छिपा हुआ है।

## दर्शन और शास्त्र—

दर्शन और शास्त्र शब्द से प्रायः समान अर्थ का बोध होता है तथापि दर्शन शब्द सम्प्रति रूढ है और शास्त्र शब्द यौगिक। 'शिष्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से आज्ञापरक वचन तथा वस्तुप्रतिपादक ग्रन्थ शास्त्र कहलाते हैं। इसीलिये धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा 'तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम्' के द्वारा पञ्चतन्त्र जैसे नीतिपरक ग्रन्थों के लिये भी शास्त्र शब्द का प्रयोग होता है।

—:०:—

# द्वितीय अध्याय

## कालक्रम से दर्शन का विकास

भारतवर्ष में मान्य परम्परा के अनुसार सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने प्रजापतियों को मनसा उत्पन्न किया तथा उनसे ही मानव सृष्टि का विकास हुआ है। इन आदिम मानवों में उच्चकोटि की क्षमता वाले व्यक्तियों--जिन्हें ऋषि भी कहते हैं--के मन में ब्रह्मा ने ही उन विशेष अनुभूतियों को जागृत किया, जिन्हें वे अपने पूर्व दिवस की स्मृति रूप से बचा कर रखे थे। उन अनुभूतियों का साकल्येन एक नाम होता है-वेद। वेद ही अनन्त ज्ञान की राशि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि वैदिक ऋचायें किन्हीं दर्शन का तो स्पष्ट प्रतिपादन नहीं करती हैं तथापि सभी भारतीय दर्शनों का बीज उनमें सुरक्षित है।

मानव-प्रकृति के अनुसार यह स्पष्ट है कि मानव-हृदय में शङ्का और तर्क की उत्पत्ति के पहले श्रद्धा और विश्वास की उत्पत्ति होती है। आदिम मानव के सामने पहले ऐसी कोई स्थिति नहीं रही होगी, जिसमें उसे तर्कजाल में फंसना पड़ा हो। प्रथमतः प्राककालिक मानवों में सांसारिक दृश्यों को देखते-देखते क्रमशः तर्क के द्वारा कारण विनिश्चय का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ होगा। जबसे यह प्रयत्न प्रारम्भ हुआ होगा उस काल से ही दर्शन अपने स्वरूप को प्राप्त किया होगा। ऐसी अवस्था में यदि वैदिक ऋषियों की वाणी का आकलन किया जाय तो एक दर्शन उत्पन्न दिखाई देगा, जिसे हम श्रौत दर्शन कह सकते हैं। यद्यपि वह दर्शन पद से कहा नहीं गया है, वह मात्र प्रकृतिप्रदत्त नैसर्गिक ज्ञान से समुद्भूत सिद्धान्तजातों का सङ्कलन है तथापि परिनिष्ठित उस आचार परम्परा को सम्प्रति दर्शन कहा जा रहा है।

### श्रौत दर्शन--

श्रौत दर्शन के अनुसार इस जगत का नियमन एक विशेष तत्त्व से होता है। यद्यपि वह एक है तथापि अनेक रूपों में उसका परिलक्षण होता है। दृश्य रूप में जगत् भी स्पष्टतः त्रिधा बिभक्त है। १-पृथ्वी, २-अन्तरिक्ष तथा ३-द्यु। एक रूपात्मक उस बिशेष तत्त्व का त्रिधा विभक्त जगत् में बहुरूप में परिशीलन होता है। सामान्य बोध के लिये हम उन्हें देव कहते हैं। इस प्रकार पृथ्वीस्थानीय देव, अन्तरिक्षस्थानीय देव तथा द्युस्थानीय देव की परिकल्पना होती है। कार्यभेद से इन देवों की अनेक कोटियां होती हैं। पृथ्वी स्थानीय देवों में अग्नि, अन्तरिक्षस्थानीय देवों में इन्द्र तथा द्युस्थानीय देवों में सविता मुख्य हैं। इस लिए वैदिक ऋषि स्तुतियों के द्वारा इन देवों की कृपा प्राप्त करना

चाहते थे। इनकी स्तुतियों में ही इनका स्वरूप परिचय भी छिपा हुआ है। एक में नानात्व की परिकल्पना तथा नाना में एकत्व का दर्शन ही इस श्रौत दर्शन का सर्वस्व है।

इस एक तत्त्व से—जिसकी अनेक संज्ञायें श्रुति ग्रन्थों में मिलती हैं--ही सम्पूर्ण सृष्टि हुई है। इसकी तथा इसके क्रम की सूचना हमें पुरुषसूक्त में दिखाई पड़ती है। श्रौत दर्शन में प्रयुक्त कुछ शब्द इसकी मान्यताओं का परिचय देते हैं यथा-अक्षर, अज,ब्रह्म,जगत,जीव, आत्मा आदि। सम्प्रतिदर्शन शब्द एक परिभाषिक शब्द बन गया है,जिसकी उपयुक्तता युक्तियों के विचार से की जाती है। श्रुति को इससे कुछ लेना-देना नहीं है। परन्तु अनादि श्रुति रङ्गमञ्च के उस रूप का निदर्शन कराती है, जिस समय रङ्गमञ्च तो है पर कोई अभिनय करने वाला नहीं है। कालक्रम में इसी रङ्गमञ्च को आधार मानकर अभिनेता अपना-अपना अभिनय करके चल जाते हैं। श्रौत दर्शन को मूलरूप में दिखाने की अपेक्षा अन्य दर्शनसिद्धान्तों के साथ ही उसकी विवेचना यहां उपयुक्त होगी।

श्रौत दर्शन की व्यापक भूमिका को आधार मानकर यदि हम विचार करें तो भारत में प्रसिद्ध दर्शनों का व्यावहारिक वर्तमान क्रम निम्नलिखित होगा—

(१) लोकायत दर्शन

(२) मीमांसा दर्शन

(३) न्याय दर्शन

(४) सांख्य दर्शन

(५) वैशेषिक दर्शन

(६) योग दर्शन

(७) वेदान्त दर्शन

(८) जैन दर्शन

(९) बौद्ध दर्शन

इस बिभाजन से इतना ही समझना चाहिए कि विक्रम पूर्व ६ वीं शताब्दी से यह क्रम गृहीत हुआ होगा। अन्यथा तो वेदान्त दर्शन सबसे प्राचीन है, क्योंकि इसका आधार उपनिषद् बनता है। साथ ही श्रौतदर्शन समनन्तर सभी दार्शनिक विचार यहाँ थे तथा सभी के मानने वाले थे। काल क्रम से विशेष प्रचार तथा विशेष विरोध हुआ है। इसलिये इन दर्शनों की निर्भ्रान्त स्थिति कालक्रम से बताना नितान्त अग्राह्य है।

## लोकायत दर्शन :—

वर्तमान समय में इस दर्शन का प्रतिपादक कोई आप्त ग्रन्थ नहीं प्राप्त है तथापि इस मत के उद्धरण सर्वत्र मिलते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि अनेक दार्शनिकों से सर्वथा अनादृत यह दर्शन जीवित है तथा भिन्न दर्शनों के तथा कथित अनुयायी व्यवहार रूप में इसे ही मानते हुए देखे जाते हैं। श्रौत दर्शन के अत्यन्त निकटवर्ती इस दर्शन से श्रौत दर्शन का जनव्यवहृत रूप भी पर्याप्त स्पष्ट होता है। इस दर्शन में मान्य कुछ श्लोक इस प्रकार हैं।

"अङ्गनालिङ्गनाज्जन्यं सुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुखं निरय उच्यते ॥ १ ॥

त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुसां,
दुःखोपसृष्टमितिमूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्,
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥२॥

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥३॥

लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरःस्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ॥४॥

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनिलानलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यः चैतन्यमुपजायते ॥५॥

किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥६॥

देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी ॥७॥

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥८॥

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः ॥९॥

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥१०॥

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्द्धयेच्छिखाम ॥११॥

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ॥१२॥

स्वर्गस्थिता यथा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥१३॥

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुतः ॥१४॥

यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गत
कस्माद्भूयो न च याति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥१५॥

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्बिहितस्त्विह
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद् विद्यते क्वचित् ॥१६॥

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः
जर्फरीतुर्फरीत्यादिपण्डितानां वचः स्मृतम् ॥१७॥

अश्वस्यात्र हि शिशनं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम
भण्डैस्तद्वत परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम ॥१८॥

मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥१८-१/२॥

स्त्री के आलिङ्गन से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है। नरक नाम की कोई अपूर्व वस्तु नहीं है, अपितु कण्टक आदि की व्यथा से उत्पन्न दुःख ही नरक है ।।१।। विषयों के सङ्ग से उत्पन्न सुख परिणामतः दुःख देने वाला होता है इसलिए त्याज्य है, ऐसी धारणा मूर्खों की होती है। भला कौन कल्याण चाहने वाला भूसी से चावल युक्त है यह मानकर उत्तम स्वच्छ चावल वाले धान्य का परित्याग करता है ॥२॥ उष्ण अग्नि शीतजल, शीतोष्णवायु को किसने बनाया है ? यह तो स्वभावतः बना है ।।३।। लोकसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, कोई दूसरा परमेश्वर नहीं होता है। देह के नाश को ही मोक्ष कहते हैं। ज्ञान से मुक्ति मिलती है, ऐसी कोई बात नहीं है ।।४।। भूमि, जल, अग्नि तथा वायु चार ही भूत होते हैं। इन्हीं से चैतन्य की उत्पत्ति होती है ।।५।। जिस प्रकार किण्व आदि द्रव्यों के संयोग से मादकता प्रादुर्भूत होती है एवं 'मैं मोटा हूं' तथा 'मैं पतला हूं' आदि ज्ञान में मैं का तात्पर्य शरीर से ही होता है, इससे सिद्ध है कि शरीर ही आत्मा है, कोई दूसरी नहीं है। यह मेरा देह है इसमें मेरा का प्रयोग लाक्षणिक है ।।६।।७।।

स्वर्ग, मोक्ष, आत्मा, परलोक, वर्णाश्रम को फल देने वाली क्रियायें वे
ब कुछ नहीं हैं ॥८॥ अग्निहोत्र, जप, वेद, दण्ड धारण, भस्म लगाना आदि
नकी जीविका के साधन हैं, जो बुद्धि तथा पौरुष से हीन हैं ॥९॥ ज्योतिष्टोम
ज्ञ में मारा गया पशु यदि स्वर्ग में जाता है तो यजमान अपने पिता को क्यों
हीं मारता है ॥१०॥ मरे हुए जन्तुओं की तृप्ति यदि श्राद्ध से होती है तो
झे हुए दीप की लौ केवल तेल ही बढ़ा देती ॥११॥ घर में रहने वाले व्यक्ति
द्वारा किये गये श्राद्ध से मार्ग में तृप्ति हो ही जाती फिर यात्री जीवों को राह खर्च
जाना व्यर्थ है ॥१२॥ ऊपर स्थित स्वर्ग में रहने वाले लोगों की तृप्ति यदि दान से
सकती हो तो ऊंचे महल पर रहने वालों को उसी विधि से क्यों नहीं देते हो ॥१३॥
वतक जीवो सुख से जीवो ऋण लेकर घी पीवो। भस्म हुए देह का दुबारा आगमन
हां ? ॥१४॥ यदि इस शरीर से निकल कर कोई दूसरे लोक को जाता है तो पुनः
न्धु के प्रेम से आकुल होकर वह लौट क्यों नहीं आता है ॥१५॥ इससे सिद्ध है कि
ाह्मणों ने अपने जीने का यह उपाय निकाला है। मरे का प्रेत कार्य हो, ऐसी कोई
ात नहीं है ॥ १६ ॥ भाण्ड, धूर्त तथा निशाचर ये ही तीन वेद के कर्ता हैं
ेद तो जर्फरी तुर्फरी आदि पण्डितों की रचना है ॥१७॥ जिस प्रकार इन भण्डों
( अश्वमेध यज्ञ में ) अश्व के शिश्न को पत्नी द्वारा ग्राह्य बताया है, उसी प्रकार
अन्य ग्राह्यों को भी बताया है। मांस आदि का खाना निशाचरों के द्वारा कहा गया
है। १८, १८-१/२

लोकायत दर्शन के इस स्वरूप को जानने के बाद स्पष्ट होता है कि यह दर्शन
केवल श्रौत दर्शन के विरोध में श्वास लेता है तथा अन्य दर्शन से इसका कोई तात्का-
लिक सम्बन्ध नहीं है। इसके अनुसार--

१. पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के स्वभाव को जानना चाहिए।
२. इन चारों भूतों की सिद्धि सभी को स्वतः हो जाती है।
३. ज्ञान की प्रक्रिया प्रत्यक्षाश्रित है।
४. चारों भूतों का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है।
५. इनकी उत्पत्ति स्वभावतः होती है। इनका कोई कर्त्ता नहीं है।
६. भूतों की समष्टि से संसार बनता है तथा इसका विनाश अस्पष्ट है।
हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, पुनः उत्पन्न भी हो सकता है।
७. सांसारिकों और संसार में भोग्यभोक्तृ सम्बन्ध है।
८. इस दर्शन की उपलब्धि भोग रूप सुख की प्राप्ति है।
९. पुनर्जन्म नहीं होता है।

इससे स्पष्ट है कि लोकायत दर्शन के पूर्व भारत वर्ष में चार भूतों से अतिरि
भूत माना जाता था। आत्मा का अस्तित्व, पुनर्जन्म, यज्ञ करना, श्राद्ध करना, स्व
तथा अपवर्ग, मांसभक्षण, परमेश्वर की कल्पना, अर्थ और काम से अतिरिक्त धर्म त
मोक्ष की अवधारणा को समाज में मान्यता प्राप्त थी। इसका ही विरोध लोकाय
दर्शन ने किया है।

## मीमांसा दर्शन :—

श्रौत दर्शन के विरोधी रूप में लोकायत के अभ्युदय के साथ ही यह अत्य
आवश्यक हो गया कि अनादि प्रयुक्त श्रौत दर्शन की मान्यता को पुष्ट किया जा
चूंकि लोकायत दर्शन में पूर्व परम्परा प्राप्त कोई आप्त ग्रन्थ प्रमाण रूप में नहीं
तथा वह श्रुति का विरोधी था इसलिए मीमांसा ने वेद को प्रमाण मानकर सोत्स
लोकायत का खण्डन किया तथा श्रुति विधियों की प्रामाणिकता दिखलाई। पर
इस प्रसङ्ग में जगत् उत्पत्ति तथा उसके कर्तृत्व के प्रश्न पर उसने भी लोकायत जै
ही सिद्धान्त बनाया तथा जगत् की निर्मिति को अनादि तथा इसके अन्त को कभी
होने वाला सिद्ध किया। साथ ही कर्तृत्व के प्रश्न पर ईश्वर के विषय में चुप्पी स
कर कर्म को सर्व प्रमुख स्थान दे दिया। वेद विरुद्ध लोकायत दर्शन की मान्यता
खण्डन करना मीमांसको का प्रधान उददेश्य है। प्रकारान्तर से लोक प्रचलित पूर्वा
धारणाओं का युक्ति के बल पर खण्डन करना मीमांसा को अग्राह्य है। इसलिए
दर्शन में वेद को अपौरुषेय माना गया तथा उसमें ही आप्तता दिखाई गई है। अपौ
षेयता के मण्डन के लिए ही शब्द का अर्थ के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध माना गय
इसका एक यह भी प्रभाव पड़ा कि स्वर्गादि लोक तथा तत्रस्थ देवों को यहां मा
गया। फलस्वरूप यज्ञादि की सिद्धि तथा तदावश्यक कर्मकाण्ड की व्यवस्था
मान्यता दी गई। उत्तम कर्मों को अदृष्ट की प्राप्ति तथा अदृष्ट के सहारे अनेक ज
की व्यवस्था एवं सुख दुःख की व्यवस्था प्रतिपादित की गई। कर्तृगत दोष से वि
को बचाने के लिए ही ईश्वर के विषय में कुछ न कहकर इस दर्शन में कर्म सिद्धा
की बाहुल्येन स्थापना की गई। यद्यपि यह दर्शन अवान्तरकालिक दर्शनों के आक्रो
का विषय बना तथापि वेद में प्रमाण्य दिलाकर लोकायत दर्शन की निःसारता दिख
में सर्वथा समर्थ बन गया।

इस दर्शन के अनुसार मनुष्य को सर्व प्रथम वेद पढ़ना चाहिए। तदुपरान्त ध
की जिज्ञासा करनी चाहिए। धर्म क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है कि—वेदप्रतिपा
प्रयोजवान् अर्थ ही धर्म है। इस लक्षण से यह लाभ होता है कि जहाँ भोजना
सामान्य प्रक्रिया धर्म नहीं बनती है क्योंकि वह वेदप्रतिपाद्य नही हैं वहां ही अन
फलक श्येनयागादि भी धर्म नहीं बनते हैं।

वेद से मीमांसा का अभिप्राय अपौरुषेय वाक्य से है। वह विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवाद रूप से ५ प्रकार का होता है। इन सबों में विधि वाक्य को प्रधान मानना चाहिए। बिधि के भी चार भेद होते हैं–१–उत्पत्ति विधि २–विनियोग विधि ३–अधिकार विधि तथा ४–प्रयोग विधि। विधि के सहकारी ६ प्रभाग होते हैं १–श्रुति २–लिङ्ग ३–वाक्य ४–प्रकरण ५–स्थान तथा ६–समाख्या। इनमें से श्रुति को सर्व श्रेष्ठता प्राप्त है क्योंकि वह निरपेक्ष रव है जो विधात्री, अभिधात्री तथा विनियोक्त्री भेद से तीन प्रकार की होती है। वेदार्थ ज्ञान के लिए विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध तथा अर्थवादों का ज्ञान, 'यजेत' रूप विधि में धातु तथा प्रत्यय ज्ञान के साथ प्रत्ययगत आख्यातत्त्व तथा लिङ्त्वरूप दोनों अंशों का ज्ञान, इन दोनों अंशों से उक्त शाब्दी तथा आर्थी भावना का ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है।

सामान्य रूप से मीमांसा इसी प्रकार के अनेक विचारों के साथ प्रयुक्त होकर वेद का प्रामाण्य सिद्ध करती है तथा कहती हैं कि मनुष्यों को वेदानुकूल आचरण करना चाहिए। यागादि वेद सम्मत हैं अत: मान्य हैं। यदि वे यागादि लौकिक उददेश्य से किये जायेंगे तो अर्थ काम की प्राति होगी तथा यदि अलौकिक उददेश्य से किये जायेंगे तो नि:श्रेयस की प्राप्ति होगी।

मीमांसा के इसी सिद्धान्त को उपवृंहित करके मीमांसकोंने निश्चित किया है कि मीमांसा के अनुसार–

(१) पृथिवी, जल तेज वायु तक आकाश काल दिक् आत्मा मन तथा शब्द नित्य द्रव्य हैं, जो ज्ञेय हैं। इनमें पृथिवी, जल तथा तेज की प्रत्यक्षता में कोई विवाद नहीं है। वायु त्वगिन्द्रिय ग्राह्य है। आकाश काल तथा दिक् की प्रत्यक्ष सिद्धि होती है। वस्तुओं का आश्रय आकाश है। बहुत विलम्ब से आये हो, इत्यादि बाक्यों में विलम्बादि पद से काल की प्रत्यक्ष सिद्धि होती है। इसी प्रकार पूर्व पश्चिम आदि विभाग भी दिक की सत्ता सिद्ध करते हैं। चैतन्य का आश्रय आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय होता है तथा अनेक, सर्वत्र व्यापक नित्य एवं भोग तथा स्वर्गादि फल को प्राप्त करने वाला होता है। दिक् आकाश आदि के अवगम में कारणभूत मन की सत्ता माननी पड़ती है। शब्द भी द्रव्य है तथा विभु है।

जहाँ तक तम का प्रश्न है वह इसलिए सिद्ध है कि अन्धतमस आदि नरक की सत्ता आगम ग्रन्थों से प्रतिपादित है। वह मटर के पुष्प के समान रंग वाला है तथा दर्शनीय है। यह कहना कि आलोक का अभाव तम है, उचित नहीं है। क्योंकि गुण, कर्म तथा संज्ञा का अस्तित्व एवम् प्रतियोगी की अस्मृति यह सिद्ध करती है कि तम भावरूप से एक पदार्थ है।

(२) इनकी सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति त अभाव रूप ६ प्रमाण होते हैं। (कुछ मीमांसक अभाव को नहीं मानते हैं)

(३) प्रत्यक्ष जगत् के अतिरिक्त स्वर्ग नरक तथा वैदिक देवों का अस्तित्व है।

(४) कर्मों से उत्पन्न एक अदृश्य शक्ति होती है, जिसे अपूर्व कहा जाता है व ही जगत् की नियामिका होती है।

(५) जगत अनादि है तथा इसका सम्पूर्णत: निधन कभी नहीं होता।

(६) पुनर्जन्म होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां सामान्य मानव की अबुद्धिजन्य सामान्य भाव को उभाड़ कर बिना कुछ उद्देश्य निश्चित किये लोकायत दर्शन अपनी स्थाप कर रहा था, वहां अध्ययन को प्रोत्साहन देकर मीमांसा ने विचार की एक सर व्यवस्थापित की। फिर भी लोक दृष्टि से मीमांसा की यह व्यवस्था अत्यन्त जटि थी। अत: लोक में न्याय दर्शन प्रादुर्भूत हुआ। जिसने मीमांसा की बात मानते भी इस पर अधिक जोर दिया कि किसी भी सिद्धान्त-मेय को स्थिर करने के लि मान की आवश्यकता होती है अत: प्रमाण विनिश्चय के उपरान्त प्रमेय स्थिर कि जाना चाहिये। अनन्तर प्रमाण प्रमेय के सम्बन्ध को व्यवस्थापित करना चाहि न्याय दर्शन का एक प्रभाव अवश्य हुआ कि जहां मीमांसा ईश्वर के विषय में चुप गई थी वहां न्याय ने उसे प्रमाणित किया तथा अर्थापत्ति एवम् अभाव (अनुपलब्धि को प्रमाण की कोटि से बाहर कर दिया। यद्यपि मीमांसकप्रवर कुमारिल ने लिखा कि मीमांसा ईश्वरवादी थी पर लोगों ने उसे लोकायत के समान बना दिया--

"प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता"
तामास्तिकपथे नेतुमयं यत्नः कृतो मया" (श्लो० वा० १/१०)

तथापि ऐतिहासिक क्रम से विवेचना करने पर यह स्पष्ट होता है कि मीमांसा अप परिस्थिति में इससे कुछ अधिक कर भी नहीं सकती थी।

**न्याय दर्शन—**

मीमांसा के द्वारा वेद तथा वेदविहित कार्यों में प्रामाण्य दिखा देने के बाद य आवश्यक हो गया था कि लोकमानस में व्याप्त ईश्वर का भी स्वरूप स्पष्ट किया जा तथा साथ ही जगत् का भी स्पष्ट विवेचन किया जाय। क्योंकि इस विषय में लोकाय तथा मीमांसा का विचार अत्यन्त स्पष्ट नहीं है। फलत: प्रमाणों का साकल्

विनिश्चय तथा प्रमेय का विनिश्चय करने का कार्य न्याय ने करना प्रारम्भ किया। प्रमाण के रूप में न्याय ने प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान तथा शब्द को माना और प्रमेय के रूप में उसने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख तथा अपवर्ग को माना। जिस आत्मा को लोकायत भूतसंघात की समष्टि होने से मानता था, फलत: देह ही उसके यहां आत्मा बन गया था तथा जिसे मीमांसक स्वर्गादि फल का भोक्ता एवं चैतन्य का असार्वत्रिक आश्रय मानता था उसे न्याय ने ज्ञान का अधिकरण माना। साथ ही उसने जीव और ईश्वर भेद करके जीव को अनेक एवं ईश्वर को एक मानकर द्विविधा की गुत्थी को सुलझा दिया। इस प्रकार लोकायत के आक्षेपों का युक्तिसङ्गत उत्तर न्याय ने ही उपस्थित किया। इसी क्रम में उसने शब्द को द्रव्य न मानकर गुण माना। परिणामस्वरूप पूर्वपरम्परा प्राप्त श्रौत दर्शन को न्याय ने नि:सन्दिग्ध बना दिया। इस दर्शन के अनुसार--

(१) इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न अव्यपदेशि अव्यभिचारि व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान प्रमाण भी पूर्ववत शेषवत तथा सामान्य भेद से तीन प्रकार का होता है। प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर साध्य का साधन उपमान कहलाता है। आप्तोपदेशरूप शब्द भी प्रमाण है। शब्द प्रमाण दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रकार के अर्थों को बताता है। स्वर्गादि की सिद्धि अदृष्टार्थ ज्ञापक शब्द प्रमाण के अधीन है।

(२) प्रमेय गत आत्मा आदि में आत्मा अनुमेय है। इसका ज्ञापक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख तथा ज्ञान का रहना है। चेष्टा और इन्द्रियार्थ का आश्रय शरीर आत्मा का भोगायतन है। घ्राण रसना चक्षु त्वक् तथा श्रोत्र रूप इन्द्रियाँ भूतों से उत्पन्न होती हैं जो पृथिवी, जल तेज वायु तथा आकाश भेद से ५ होते हैं। इन भूतों में भी पृथिवी का गन्ध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श तथा आकाश का शब्द विशेष गुण होता है। इसे ही अर्थ कहते हैं। बुद्धि को ज्ञान कहते हैं। एक से अधिक ज्ञान एक साथ नहीं होता है, यह सिद्ध करता है कि मन भी है। शरीर वचन तथा मन से किये पाप तथा पुण्य आदि को प्रवृत्ति कहते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्ति के हेतु रागद्वेषादि दोष, पुन: उत्पत्ति को प्रेत्यभाव, प्रवृत्तिदोष जनित अर्थ को फल, बाधना लक्षण दु:ख तथा दु:ख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। अपवर्ग की प्राप्ति का क्रम इस प्रकार होगा— तत्त्वसाक्षात्कार से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति, उससे रागद्वेषादिरूप दोष की निवृत्ति, उससे धर्माधर्मरूप प्रवृत्ति की निवृत्ति, उससे पुनर्जन्म की निवृत्ति, उससे समस्त दु:खों की निवृत्ति, उससे अपवर्ग की प्राप्ति।

(३) प्रमाण प्रमेय के ज्ञान के साथ ही संशय प्रयोजन दष्टान्त सिद्धान्त अवयव

तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति तथा निग्रह स्थान के ज्ञान से निःश्रेयस का अधिगम होता है ।

(४) अनुमान तथा शब्द से यह सिद्ध है कि परमात्मा इस सृष्टि का कारण है। सभी कार्यों का कोई कारण होता है । जगत् एक कार्य है अतः उसका कारण परमात्मा है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रौत दर्शन को अत्यन्त सुव्यवस्थित करने में न्याय ने विशिष्ट भूमिका निभाई । परन्तु पदार्थों के वर्गीकरण के बाद भी व्यावहारिक जीवन की उन गुत्थियों को सुलझाने में कदाचित् न्याय असमर्थ रहा जहां जीवात्मा तथा परमात्मा के विषय में प्रश्न उपस्थित होते थे। सृष्टि कैसे हुई तथा अपवर्ग की प्राप्ति का हेतु तत्त्व साक्षातकार का क्या तात्पर्य है–आदि प्रश्नों का सुव्यवस्थित उत्तर न्याय के पास नहीं था। फलतः दर्शन की श्रृंखला में सांख्य दर्शन का जन्म हुआ ।

**सांख्य दर्शन :--**

न्याय दर्शन ने यद्यपि ईश्वर तथा जगत एवं जगत् के सम्बन्ध में एक तात्त्विक तर्क प्रधान दृष्टि दिया तथा प्रकारान्तर से श्रौत दर्शन की सम्पूर्णतः प्रामाणिकता को सिद्ध किया तथापि सृष्टि की प्रक्रिया का अत्यन्त स्पष्ट विवेचन नहीं कर पाया और न तो इसे ही बता पाया कि अपवर्ग की प्राप्ति कैसे होती है। साथ ही यहां सृष्टि में वैषम्य के दर्शन से न्यायसम्मत ईश्वर की समुचित कर्तृता भी बाधित होती है। इसलिए मूलतः इसी को हेतु बनाकर सांख्य ने अपना विचार प्रारम्भ किया ।

इस दर्शन के अनुसार विश्व में मूलतः दो तत्त्व होते हैं। (१) पुरुष तथा (२) प्रकृति । इनमें चैतन्य पुरुष निष्क्रिय होता है पर उसके सहकार से प्रकृति इस सृष्टि के प्रति कारण बनती है । प्रकृति (प्रधान) से बुद्धि (महान), बुद्धि से अहङ्कार की उत्पत्ति होती हैं । प्रकृति का कोई उत्पादक नहीं है अतः वह विकृति नहीं, अपितु, अविकृति कहलाती है । परन्तु प्रकृति से महान उत्पन्न होता है तथा महान से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रायें तथा एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती है तथा उन तन्मात्राओं से भौतिक सृष्टि होती है। अतः स्वयं उत्पन्न होने तथा किसी के उत्पादक होने के कारण प्रकृति के बाद के ७ तत्त्व प्रकृति तथा विकृति दोनों कहे जाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक पञ्चतन्मात्राओं से आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक ५ भूत होते हैं। इस प्रकार पुरुष, प्रकृति, महान्, अहङ्कार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रसतन्मात्रा,

गंधतन्मात्रा, कर्ण इन्द्रिय, त्वक् इन्द्रिय, नेत्र इन्द्रिय, जिह्वा इन्द्रिय, नासिका इन्द्रिय, वाक् इन्द्रिय, पाणि इन्द्रिय, पाद इन्द्रिय, पायु इन्द्रिय, उपस्थ इन्द्रिय, मन, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक २५ तत्त्वों से इसी क्रम से सृष्टि होती है।

(२) ऊपर लिखित ज्ञेय तत्त्वों में कुछ का प्रत्यक्ष, कुछ का अनुमान तथा शेष की सिद्धि शब्द प्रमाण से होती है।

(३) कार्य की सत्ता अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में रहती है।

(४) प्रकृति में सत्त्व, रज तथा तम रूप ३ गुण रहते है। यहां गुण शब्द न्याय की तरह द्रव्य में रहने वाले नहीं हैं अपितु द्रव्यरूप ही हैं। क्योंकि इन्हीं तीनों गुणों वाली प्रकृति स्वयं होती है। इनकी साम्यवस्था ही प्रकृतिपदवाच्य होती है। इन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता है अपितु सांसारिक कार्यों को देखकर इनका अनुमान होता है।

(५) जिस प्रकार एक अन्धे और लङ्गड़ेने परस्पर के सहयोग से अपनी विपत्ति से छुटकारा ले लिया था। उसी प्रकार प्रकृति तथा चेतन पुरुष के सहकार से सृष्टि का का क्रम चलता है। अपने को ज्ञात होने की अपेक्षा से युक्त प्रकृति कैवल्यार्थी पुरुष से अनुषक्त होती है। पुरुष सहकार होने पर प्रकृति के गुणों में विक्षोभ होने से महान् आदि के रूप में प्रकृति स्वयं सृष्टिरूप में विपरिणमित हो जाती है। उत्पत्ति का अर्थ विपरिणाम है।

(६) आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक त्रिविध दुःखों से निवृत्ति ही इस दर्शन का मूल उददेश्य है, जिसकी प्राप्ति प्रकृति को समझने से स्वतः हो जाती है। दुःख से निवृत्ति का तात्पर्य पुरुष का अपवर्ग प्राप्त करना है। अर्थात् पुरुष–आत्मा–अपनी स्वतन्त्र असङ्ग केवल की दशा को प्राप्त कर लेता है।

(७) पुरुष अर्थात आत्मा जो चैतन्य रूप है–अनेक होते हैं क्योंकि उनमें गुण क्रिया जन्म मरण तथा आकृति स्वभाव आदि का भेद रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य दर्शन ने प्रकृति पुरुष रूप दो मूल तत्त्वों की उदभावना करके सृष्टि का एक स्वरूप तो दिया पर कई शङ्काओं को उसने जन्म भी दिया यथा–

(१) क्या प्रकृति की कल्पना केवल अनुमान सम्मत नहीं है ?

(२) चेतन की अध्यक्षता से रहित अचेतन प्रकृति में स्वतः प्रवृत्ति होना क्या तर्क सङ्गत है ?

(३) पुरुष को चैतन्य रूप मानना तथा उसे विचित्र भी कहना क्या युक्ति सङ्गत है ?

(४) क्या शब्द को प्रमाण मानना तथा आनुश्रविक को दोषयुक्त भी मानना वदतोव्याघात नहीं है ?

ऐसी स्थिति में न्याय दर्शन की प्रमाणव्यवस्था को लोक में अधिक मान्यता प्राप्त होना स्वाभाविक था। परन्तु न्याय की प्रमेयव्यवथा में हृदयग्राहिता का अभाव तथा षोडश पदार्थों में वाद जल्प वितण्डा आदि की परिगणना से सम्भावित दोषों को देखकर वैशेषिक दर्शन का जन्म हुआ, जिसने आद्यन्त हृदयग्राही रूप से न्याय की मान्यता को परिष्कृत करके अपने स्वरूप को संसार के समक्ष रखा।

## वैशेषिक दर्शन—

सांख्य दर्शन के अनन्तर मीमांसा न्याय और सांख्य के मत में आई आपत्तियों का निस्तारण करते हुए श्रौत-दर्शन की मान्यता को पुष्ट करने के लिए ही वैशेषिक दर्शन का जन्म हुआ। इस दर्शन ने प्रमेय का समुचित आकलन किया तथा पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य का भी स्पष्ट प्रतिपादन किया।

इसका कहना है कि संसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु के नित्य परमाणुओं से बनता है तथा अनित्य होता है। परमाणु नित्य आकाश में सदा रहते हैं। जीवों के भोग सम्पादन के लिए महेश्वर में सृष्टि की इच्छा होती है। अनन्तर आत्माओं के अदृष्ट की कुण्ठित शक्ति कार्योत्पादन के लिए उन्मुख हो जाती है। पुनः वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे वायवीय परमाणुओं का परस्पर में संयोग होता है तथा द्व्यणुकादि क्रम से आकाश में महान वायु उत्पन्न हो जाता है। फिर वायु और जल के परमाणुओं के योग से सलिल राशि उत्पन्न होती है। इसी सलिल राशि में पार्थिव परमाणुओं के द्वारा पृथिवी उत्पन्न होती है तथा उसी सलिलनिधि में तैजस अणुओं के द्वारा द्व्यणुकादिप्रक्रम से महान् तेजोराशि उत्पन्न होती है। इस प्रकार चारों महाभूतों के रूप धारण कर लेने पर महेश्वर के अभिध्यान मात्र से पार्थिव तथा तैजस अणओं के मिश्रण से एक विशाल अण्ड उत्पन्न होता है। उस अण्ड में पितामह उत्पन्न होते हैं, जो प्रजासर्ग के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वह पितामह जीवों के कर्म, जो संस्कार के रूप से उनमें रहते हैं, के अनुसार प्रजापतियों की मानसी सृष्टि करते हैं तथा मनु देव ऋषि एवं पितृजनों को भी उत्पन्न करते हैं। ततः वर्ण व्यवस्था के अनुसार मानवों की उत्पत्ति होती है। ब्राह्म मान से पितामह ब्रह्मा के १०० वर्ष पूरे होनेपर सांसारिकी व्यवस्था से खिन्न जीवों के विश्रामार्थ महेश्वर में

ज्यों ही जिह्वीर्षा उत्पन्न होती है त्यों ही जिस क्रम से सृष्टि होती है, उसके विपरीत क्रम से उसका संहार हो जाता है तथा अनन्त आकाश तत्तत् परमाणुओं से व्याप्त हो जाता है।

प्रलयकाल में होने वाला महेश्वर से स्वत:दत्त विश्राम के पूर्व कदाचित् जीव में संस्कारवशात् दु:ख की निवृत्ति पूर्वक नि:श्रेयस की प्राप्ति का उद्देश्य जागृत होने पर उसे धर्म की प्राप्ति करनी चाहिए। जिससे तत्त्वज्ञान एवम् दु:ख से अत्यन्त निवृत्ति हो सके उसे धर्म कहते हैं। इस धर्म के विषय में सभी को जागरूक रहना चाहिए। जिन पदार्थों के तत्त्वज्ञान से इस धर्म की उपलब्धि होती है वे ६ हैं। १–द्रव्य, २–गुण, ३–कर्म, ४–सामान्य, ५–विशेष ६–समवाय। इन ६ भाव पदार्थों के अतिरिक्त एक अभाव नामक भी पदार्थ होता है।

(१) द्रव्य ९ होते हैं– १. पृथिवी, २. अप्, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिक्, ८. आत्मा तथा ९. मन। इन द्रव्यों में गुण अथवा क्रिया रहती है। परन्तु द्रव्यों की उत्पत्ति के क्षण में वह गुण क्रिया विहीन होता है। अनन्तर वह गुण तथा क्रिया से युक्त हो जाता है। गुणों की संख्या २४ होती है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, बिभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म तथा संस्कार। कर्म ५ प्रकार का होता है। सामान्य एक प्रकार का होता है। इसे प्रकारान्तर से जाति कह सकते हैं। सामान्य में एकत्व की बुद्धि इसी के कारण होती है। निरवयव द्रव्यों में भेद का नियामक एक पदार्थ होता है, उसे विशेष कहते हैं जो अनन्त होता है। आधार और आधेय में से एक के विनष्ट होने तक जो बना रहता है, वह समवाय होता है।

(२) सभी पदार्थों में अस्तित्व, ज्ञेयत्व तथा अभिधेयत्व रहता है।

(३) पृथिवी का विशेष गुण गन्ध, जल में शीतस्पर्श, तेज में उष्णस्पर्श, वायु में अनुष्णाशीतस्पर्श, आकाश में शब्द विशेष गुण रहता है।

(४) आकाश नित्य सर्वव्यापी तथा अगोचर है। दिक् और काल भी अगोचर हैं। आत्मा नित्य, व्यापक और चैतन्य का आधार है। मन भी दृष्टिगोचर नहीं होता तथा अनुमेय होता है।

(५) प्राक्, प्रध्वंस, अत्यन्त तथा अन्योन्य भेद से अभाव ४ प्रकार का होता है।

(६) जीवात्मा अपने बुद्धि ओर कर्म के अनुसार सुख दु:ख का भोग करता है।

(७) प्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही मुख्य हैं पर शब्द की सत्ता भी स्वीकार योग्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैशेषिक दर्शन सृष्टिप्रलय-जीवात्मा-परमात्मा-पुर्नजन्म-वर्णाश्रम व्यवस्था आदि सभी विषयों की तात्त्विक विवेचना करता है। परन्तु यह ईश्वर के साथ जीवात्माओं तथा परमाणुओं का भी अस्तित्व मानता है। यह ईश्वरवादी होते हुए भी अनेकवादी है। इस दर्शन में चैतन्य को आत्मा का औपाधिक गुण मानने के कारण एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है तो उसे विषयों का अनुभव कैसे होता है ? तथा दु:ख की निवृत्ति की योग्यता कैसे उत्पन्न होती है ? ऐसी स्थिति में क्रम से योग दर्शन का अभ्युदय दिखाई देने लगता है।

## योग दर्शन :—

योग दर्शन एक प्रकार से सांख्य का द्वितीय संस्करण है जैसे वैशेषिक न्याय का संस्करण है। सांख्य के २५ तत्त्वों के अतिरिक्त योग दर्शन में ईश्वर की अतिरिक्त सत्ता स्वीकृत है। ईश्वर की सिद्धि में योग वेद को सर्वातिशायी प्रमाण मानता है। इसके अनुसार यदि वस्तु का छोटा रूप परमाणु है तो आकाश सबसे बड़ा है। इसी प्रकार ज्ञान की सर्वाधिक मात्रा का अधिष्ठान ईश्वर है। यह दर्शन सत्त्व, रज तथा तम के विपरिणमित रूप बुद्धि अहङ्कार एवम् मन की समष्टि. जिसे हम अन्त:करण कहते हैं, की एक विशेष अवस्था को चित्त मानता है। चित्त में सबसे अधिक सत्त्व का उदय होता है। इसी चित्त की वृत्ति का निरोध योग है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध भेद से चित्त ५ प्रकार का होता है। इस चित्त की प्रधानत: ५ वृत्तियाँ होती हैं। १–प्रमाण २–विपर्यय ३–विकल्प ४–निद्रा तथा ५--स्मृति। इन वृत्तियों से संस्कारों की उत्पत्ति होती है तथा संस्कारों से पुन: वृत्तियों का उदय होता है। स्थूल वृत्तियों तथा संस्कारों का सम्पूर्णत: निरोध होना ही योग है। पुरुष जिसे जीव या आत्मा भी कहा जाता है, चेतन है अत: वही द्रष्टा है। सुख दु:ख का साक्षात्कार बुद्धि करती है। परन्तु जब पुरुष अपने को बुद्धि से एकाकार कर लेता है तो वह योग की उपलब्धि करने लगता है। चूंकि चित्त में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रहते हैं। फलत: तत्सम्बद्ध पुरुष इसे भोगने को विवश हो जाता है। इसी चित्त की वृत्तियों का यदि अभ्यास और वैराग्य से निरोध हो जाय तो जीव मुक्त हो सकता है। जीव की बद्ध, मुक्त तथा प्रकृतिलीन अवस्थायें होती हैं।

क्लेश कर्म विपाक तथा आशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर कहलाता है। उसमें प्रणिधान से समाधि का लाभ होता है। ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव है। इस प्रणव का जप तथा प्रणवाभिधेय ईश्वर की भावना से चित्त एकाग्र होता है।

"स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते"
"स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते"

के अनुसार एकाग्र चित्त में परमात्मा के प्रकाश होने के कारण जिस प्रकार ईश्वर शुद्ध कूटस्थ, प्रसन्न, क्लेशवर्जित तथा धर्माधर्मापेत होता है उसी प्रकार जीव भी हो जाता है।

इस अवस्था की प्राप्ति के लिए शरीर तथा इन्द्रियों की शुद्धि आवश्यक है। यह शुद्धि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, तथा समाधि के द्वारा होता है। इन योगाङ्गों के सेवन से पुरुष को आठ प्रकार की सिद्धियाँ भी मिलती हैं पर ये परित्याज्य हैं। क्योंकि योगी का लक्ष्य आत्मदर्शन होता है, जिनमें यह सिद्धियाँ बाधक होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रौत दर्शन को एक व्यवस्थित रूप देने में योग पर्याप्त सहायता देता है। परन्तु जीव और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अब तक कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं बन पा रही है। यह एक ऐसी त्रुटि है जिसका निराकरण होना अत्यन्त आवश्यक था। फलत. वेदान्त दर्शन का आविर्भाव हुआ।

### वेदान्त दर्शन :—

इस दर्शन में पूर्णतः एक ही तत्त्व व्यवस्थापित किया गया है जिसे ब्रह्म कहते हैं। "सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्म" यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। परन्तु यही ब्रह्म जगत् का उत्पादक, व्यवस्थापक तथा नाशक भी है, यह तटस्थ लक्षण है । ऐसी अवस्था में वह मायावच्छिन्न होता है। फलतः उसे सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते है। नाटक में नट दुष्यन्त बनता है। उस समय वह क्षत्रिय है तथा राजा है। यह उसका तटस्थ लक्षण है। पर नाटकान्त मं वह नट है, यह उसका स्वरूप लक्षण है। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म में भेद की उत्पत्ति बनाई जाती है। वस्तुतः वह एक है।

अग्नि की दाहिका शक्ति के समान माया ब्रह्म के साथ रहती है। यह शक्ति त्रिगुणात्मिका ज्ञानविरोधिनी भावरूपा है। यह न तो सत् है, न असत् है अपितु, दोनों

से बिलक्षण है अत: अनिर्वचनीय है। ब्रह्मज्ञानी को माया का बाध होता है अत: इसे सत् मानने में बाधा है। साथ ही असत् की प्रतीति नहीं होती है पर माया की प्रतीति होती है अत: असत् भी नहीं हैं। इस लिए इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। इस माया में आवरण तथा विक्षेप रूप दो शक्ति होती है। वस्तु के असली रूप को छिपाना आवरण शक्ति से होता है तथा उसी वस्तु को नया रूप दे देना विक्षेप शक्ति का कार्य होता है। आवरण शक्ति से माया ब्रह्म के उस निर्गुण रूप को छिपाती है तथा विक्षेप शक्ति से उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च को उद्‌भासित करती है। पर ब्रह्म इस माया से सदा असम्पृक्त रहता है। यह उस ब्रह्म की अनित्य इच्छा जैसी है। पर जब वह इस माया के द्वारा आवृत रहता है तब सविशेष भाव धारण करने के कारण वह ईश्वर कहलाता है। इसी ईश्वर से सृष्टिव्यापार चालू होता है तथा इस सृष्टिव्यापार में उसका भाव लीला करना होता है। अन्यथा वह सर्वकाम तथा सर्वज्ञ है।

इस जगत् की सृष्टि में ईश्वर जहां निमित्त कारण है वहां उपादान कारण भी है। शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म तथा मायोपहित चैतन्य रूप ईश्वर होता है। इसके साथ ही अन्त: करणावच्छिन्न चैतन्य की संज्ञा जीव होती है। शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल का भोक्ता आत्मा ही जीव है। आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव का होता है पर शरीरादि उपाधियाँ, जो उत्पत्तिवाली तथा विनाशवाली हैं, के सम्पर्क से उस आत्मा में जीवभाव आता है।

तम: प्रधान विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्र रूप आकाश की उत्पत्ति, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इन सूक्ष्मभूतों से पञ्चकर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय वायुपञ्चक बुद्धि तथा मन वाले सूक्ष्म शरीरों की और स्थलभूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूलभूत पञ्चीकृत होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक स्थूलभूत में स्वसूक्ष्मभूत का आधा भाग तथा शेष भूतों का अष्टमांश मिलकर स्थूलभूत बनता है अर्थात् स्थूल पृथ्वी में सूक्ष्म पृथ्वी भूत १/२ + १/८ आकाश + १/८ जल + १/८ तेज + १/८ वायु मिला रहता है।

चूंकि इस दर्शन में माया के कारण अज्ञानोपहित ब्रह्म में जगत् प्रतिभासित होता है अत: यहां तीन प्रकार की सत्ता मानी जाती है। (१) प्रतिभासिकी सत्ता, (२) व्यावहारिकी सत्ता तथा (३) पारमार्थिकी सत्ता। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति जब तक रहती है तब तक वहां सर्प की प्रातिभासिकी सत्ता रहती है। व्यवहार काल में जगत् प्रतीत होता है अत: उसकी व्यावहारिकी सत्ता होती है। परन्तु जब ज्ञानी को इस जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान होकर एकमात्र परमार्थ रूप ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तब उसका ज्ञान पारमार्थिकी सत्ता की पुष्टि करता है। बस्तुत: यह

जगत् अध्यास के कारण प्रतिभासित होता है। अध्यास का अर्थ किसी पदार्थ में उस पदार्थ से भिन्न वस्तु का आरोप हो जाना है। शुद्ध बुद्ध, मुक्त, स्वभाव, जीव अविद्या के कारण भूला हुआ सा है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् अतात्विक अन्यथाभाव है।

सांसारिक यात्रा निर्वाह के लिए कर्म आवश्यक है। आत्मा की निरन्तर प्रतीति को बनाये रखने के लिए ज्ञान आवश्यक है। कर्म और ज्ञान के समुच्चय से प्रारम्भिक जीवन सुव्यवस्थित रहता है परन्तु मोक्ष का उपाय ज्ञान ही है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधनचतुष्टय से व्यक्ति को सम्पन्न होना होता है। गुरु अध्यारोप और अपवाद की विधि से ब्रह्म का उपदेश करता है। वह बताता है कि आत्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों से अतिरिक्त तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों से पृथक है। इस तरह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त व्यक्ति अन्त में ब्रह्म की अनुभूति से विदेह मुक्ति की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

इस दर्शन के अनुसार—

( ) ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है।

(२) जगत मिथ्या है।

(३) जीव ब्रह्म ही है।

(४) शुद्ध स्वरूपानुभव ही मुक्ति है।

(५) प्रमाण रूप में प्रत्यक्ष. अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि माने जाते हैं।

**इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद प्रामाण्य की संस्थापिका मीमांसा, ईश्वर की सिद्धि करने वाला न्याय, प्रकृति के द्वारा सृष्टि का व्यवस्थापक सांख्य, प्रमेय का सर्वोत्तम वर्गीकरण करने वाला वैशेषिक, ईश्वर की प्राप्ति में सहायक शरीर का संशोधक योग तथा ज्ञान से विमुक्ति का प्रतिपादक वेदान्त क्रमिक रूप में एक ही श्रौतदर्शन के परिपोषक हैं तथा वेद को प्रमाण मानने के कारण आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं— क्योंकि 'नास्तिको वेदनिन्दकः'।** मेरे विचार से इन दर्शनों का भेद अधिकारीगत भेद के कारण है। इन दर्शनों के क्रमिक अध्ययन एवं सिद्धान्त अनुपालन के बिना वस्तुतः श्रौतदर्शन समझ में नहीं आ सकेगा। "नारि मुई घर संपति नासी, माथ मुड़ाय भये सन्यासी" से इनका कुछ लेना-देना नहीं है।

## जैन दर्शन—

यहां तक हमने यह देखा कि लोकायत दर्शन की मान्यता का खण्डन करने के लिये तथा वैदिक आचार की सुरक्षा के लिए भारतवर्ष में क्रमिक विचार हुआ है पर मानव बुद्धि की यह विशेषता है कि वह दीर्घकाल तक एक लकीर पर नहीं चल सकता है। बुद्धिकौशल का प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। चूंकि श्रौत परम्परा किसी एक व्यक्ति की देन नहीं है तथा भारतीय संस्कृति में प्रबुद्धजनों को अपना कौशल दिखाने की छूट है अत: विक्रम पूर्व छठीं शताब्दी में जैन मत का प्रादुर्भाव हुआ। यों तो जैनमत के आद्य प्रवर्तक पार्श्वनाथ का जन्म ६०० वि० पू० था पर इसका समुचित विकास अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान से हुआ, जो कि विक्रम पूर्व छठी शताब्दी के अन्त में हुए थे। इस मत का मूल आगम तो विलुप्त है पर विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी में आचार्य उमास्वाति के काल से इनका दर्शन व्यवस्थित होने लगा।

इस दर्शन की यह विशेषता है कि वह किसी भी वस्तु का परीक्षण अपनी शैली से करता है। इस दर्शन के अनुसार--

संसार में एक ही पदार्थ है और वह है द्रव्य। गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहते हैं। ये दोनों भी द्रव्य के स्वस्वरूप हैं। द्रव्य के परिणमन को पर्याय कहते हैं। पर्याय यह बतलाता है कि द्रव्य प्रतिक्षण बदलता रहता है। गुण उसे कहते हैं, जिसके कारण द्रव्य सजातीय से मिलता है तथा विजातीय से पृथक् होता है। इसलिए इस दर्शन मे सामान्य और विशेष को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव द्रव्य की ही अवस्थायें हैं। इनमें से कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। कोई भी वस्तु न केवल द्रव्य रूप है और न केवल पर्याय रूप किन्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। वह ही प्रमाण का विषय बनता है।

इस दर्शन में प्रमाण के दो भेद होते हैं। १–प्रत्यक्ष, २–परोक्ष। यह विभाजन जैन दर्शन में बाद में आया है। पहले मति, श्रुत, अवधि मन: पर्याय और केवल भेद से ज्ञान के पाँच भेदों को ही प्रमाण मानते थे पर बाद से प्रत्यक्ष में अवधि, मन: पर्याय तथा केवल का एवं परोक्ष में मति तथा श्रुत का अन्तर्भाव करके दो ही प्रमाण माने गये। आत्मसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा आत्मेतर इन्द्रिय मन सापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की तीन श्रेणी होती है। (क) अवधि ज्ञान–जब मनुष्य अपने कर्म बन्धन का कुछ भाग काट लेता है तो वह एक ऐसी

शक्ति प्राप्त कर लेना है, जिससे दूरस्थ, सूक्ष्म तथा अस्पष्ट वस्तुओं को भी जान लेता है। इस ज्ञान की सीमा या अवधि होती है, अतः यह अवधि ज्ञान है। (ख) मनः पर्याय–जब मनुष्य रागद्वेष आदि मानसिक बाधाओं को पार कर लेता है तो वह किसी के भी वर्तमान तथा भूत को जान लेता है. इसे मनःपर्याय कहते हैं। (ग) केवल ज्ञान–जब ज्ञान के बाधक कर्म जीव से दूर हो जाते हैं तब मनुष्य अनन्त ज्ञान का अधिकारी हो जाता है, इसे केवल ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं। परोक्ष ज्ञान के दो भेद होते हैं। १–मति, २–श्रुत। मति ज्ञान दो प्रकार का होता है। जो बाह्येन्द्रिय के द्वारा प्राप्त होता है वह इन्द्रियजन्य तथा जो केवल मानस ज्ञान होता है वह अनिन्द्रियजन्य। शब्द से उत्पन्न ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहते हैं।

उपरिलिखित प्रमाण मीमांसा प्रचीन जैन समस्त है। हेमचन्द्र तथा गुणरत्न ने इन्द्रियमनःसंयोगजन्य ज्ञान को व्यावहारिक प्रत्यक्ष तथा उपरिलिखित अवधि, मनः पर्याय एवं केवल ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना है। साथ ही परोक्ष ज्ञान के ५ भेद करते हैं। १–स्मृति २–प्रत्यभिज्ञान ३–तर्क ४–अनुमान तथा ५–आगम। अतीत का यथार्थस्मरण स्मृति, 'यह ही वस्तु है यह प्रत्यभिज्ञान, उपलम्भ तथा अनुपलम्भ निमित्त व्याप्ति का ज्ञान तर्क, हेतु से साध्य का ज्ञान अनुमान तथा आप्त पुरुष एवं आगम के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान आगम कहलाता है। पर आगम ज्ञान में वे जैनागम को ही प्रमाण मानते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार केवल एक ही पदार्थ होता है और वह है द्रव्य। 'द्रव्य के दो विभाग होते हैं। एकदेश व्यापी तथा बहुदेश व्यापी। एकदेश व्यापी केवल 'काल' होता है तथा बहुदेश व्यापी जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म तथा अधर्म होता है। इनके अस्तिव के कारण 'अस्ति' तथा विस्तृत होने के कारण 'काय' कहा जाता है। फलतः काल तथा ५ अस्तिकाय द्रव्य के ही भेद बनते हैं। बहुदेश व्यापी चेतन द्रव्य को जीव कहते हैं। शेष ४ अस्तिकाय अजीव कहलाते हैं। पुद्गल का तात्पर्य उन द्रव्यों से है जो शरीर की संघटना करते हैं। अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देने वाला आकाश कहलाता है। गतिशील जीव तथा पुदगल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्य विशेष को धर्म तथा गतिविहीन जीव तथा पुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण को अधर्म कहते हैं।

किसी भी पदार्थ को इस दर्शन में नित्य नहीं माना जाता है। चूंकि वस्तु अनन्त-धर्मात्मक हैं अतः उनका यथार्थ ज्ञान तो केवल कैवल्यज्ञानप्राप्त जिन' को ही हो सकता है, शेष तो आंशिक ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए उसे पदार्थ के

ज्ञान के लिए सात अवधारणाओं से गुजरना होगा। सत्ता को एक नित्य रूप न मानक विभिन्न रूपों में उसका आकलन करने के कारण जैन दर्शन को अनेकान्तवादी दर्श कहा जाता है। सत्ता के सापेक्ष रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का सात रूप बन जाता है, जिसे सप्तभंगीनय कहते हैं। अर्थात्–

(१) हो सकता है कि वह वस्तु विशेष समय में ऐसा ही हो (स्यादस्ति)

(२) हो सकता है कि वह वस्तु विशेष समय में वैसा न हो (स्यान्नास्ति)

(३) हो सकता है कि वह वस्तु वैसा भी हो और वैसा न भी हो (स्यादस्ति च नास्ति च)

(४) हो सकता है कि उस वस्तु कि विषय में कुछ कहना कठिन हो (स्यात अवक्तव्यम)

(५) हो सकता है कि वह वस्तु हो, पर कहना कठिन हो ( स्यादस्ति च अवक्तव्यं च )

(६) हो सकता है कि वह वस्तु न हो, पर कहना भी कठिन हो ( स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च )

(७) हो सकता है कि वह वस्तु हो भी और न भी हो तथा कहना भी कठिन हो ( स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च )

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन वेद की आप्तता मानने को तैयार नहीं है। यह दर्शन ईश्वर को भी नहीं मानता है। मोक्ष की कल्पना अनन्त ज्ञान सम्पन्न होना अर्थात् जिन होना है। चेतन जीवन का भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के साथ सम्बन्ध कराने का कारण कर्म होता है। कर्म सम्बन्ध से जीव का बन्धन तथा उसके प्रभाव से हीन होने पर जीव का मोक्ष होता है। कर्म के साथ जीव का संयुक्त होना आस्रव कहलाता है। कर्म के द्वारा जीव का व्याप्त होना बन्ध कहलाता है। अग्रिम कर्मों के मार्ग का अवरोध करना संवर तथा सम्पादित कर्म को निर्वीर्य करना निर्जरा कहलाती है। निर्जरा का परिणाम मोक्ष कहलाता है।

इस मोक्ष की अवाप्ति यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा के कारण होती है। इसे सम्यक् दर्शन कहते हैं इसके साथ सम्यक् ज्ञान भी आवश्यक है। इसकी योग्यता सम्यक् चारित्र्य से होती है। सम्यक् चरित्र के लिए पञ्च महाव्रतों का पालन

करना चाहिए। पञ्च महाव्रत में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह सम्मिलित है।

जैन दर्शन के इस स्वरूप को देखने से पता चलता है कि श्रौत परम्परा की सारी बातों को घुमा फिराकर नये रूप में इस दर्शन ने ( उसी व्यवस्था को ) माना पर बुद्धि कौशल के साथ। ईश्वर का खण्डन, वर्णाश्रम व्यवस्था की अनित्यता, अहिंसा पर अनावश्यक जोर के साथ समाज के एक विशेष वर्ग में इसने अपना प्रभुत्व जमाया। इस प्रकार बुद्धि कौशल की परम्परा चालू हो जाने के कुछ काल बाद ही बौद्ध दर्शन ने जनमानस को झकझोरने का प्रयत्न प्रारम्भ किया।

## बौद्ध दर्शन :—

विक्रम से ५ शताब्दी पूर्व कपिलवस्तु में उत्पन्न सिद्धार्थ गौतम ने बुद्ध धर्म को जन्म दिया। उनका अभिप्राय दर्शन की स्थापना नहीं था। उन्होंने संसार में सर्वत्र दु:ख का साम्राज्य देखकर उसके निरोध के मार्ग को ढूंढने में जो मार्ग प्राप्त किया, वह मार्ग ही बुद्ध धर्म की आधारशिला थी। उनके साक्षात प्रवचनों का स्वरूप तो अप्राप्त है पर बाद में उनके वचनों का संग्रह अनेक शताब्दी में किया गया, जिसे आजकल त्रिपिटक कहते हैं। इन्हीं बुद्धवचनों को आधार मानकर बौद्ध दर्शन का प्रासाद खड़ा किया गया है।

ज्ञान प्राप्ति के बाद सिद्धार्थ गौतम बुद्ध कहलाने लगे। उनकी दृष्टि दार्शनिक विवादों में न जाकर केवल संसार के दु:ख से विमुक्ति पाना ही था। उन्होंने ४ आर्य सत्यों का उपदेश दिया— (१) संसार दु:खमय है, (२) दु:खों का कारण है, (३) दु:खों का अन्त हो सकता है तथा (४) दु:खों के अन्त का उपाय भी है। उनका सिद्धान्त था कि—

(१) शोक रोग आदि दु खों से जरामरण रूपी दु:ख प्रबल होता हैं। संसार में जरामरण है अत: यह दु:खमय है।

(२) जरामरण का कारण जाति अर्थात् जन्म ग्रहण करना है। जाति का कारण भव अर्थात् पुनर्जन्म उत्पन्न करने वाले कर्म। भव का कारण उपादान अर्थात् आसक्ति है। उपादान का कारण तृष्णा अर्थात् विषयभोग की वासना है। तृष्णा का कारण वेदना अर्थात् पूर्वविषयभोग है। वेदना का कारण स्पर्श अर्थात् विषयेन्द्रिय सम्पर्क हैं। स्पर्श का कारण षडायतन अर्थात पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन है। षडायतन का कारण नामरूप अर्थात् गर्भस्थ का शरीर और मन है। नामरूप का कारण विज्ञान

अर्थात् चैतन्य है। विज्ञान का कारण सस्कार है जो पूर्वजन्मार्जित होता है। संस्का का कारण अविद्या अर्थात् अज्ञान है। इस प्रकार अविद्यारूप कारण से जरामरण रू दु:ख का एक कार्यकारण भाव बनता है। इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं प्रतीत्य- किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरे वस्तु का समुत्पाद-उत्पत्ति। यह सापे कारणतावाद "प्रतीत्य समुत्पाद" शब्द से बुद्ध को अभिमत है।

(३) दु:ख का निरोध निर्वाण है। अविद्या का निरोध करने पर निर्वाण क प्राप्ति होती है।

(४) दु:ख निरोध का प्रतिपद् अर्थात मार्ग है। वह है सुख तथा दु:ख क अन्तिम कोटि का परित्याग करके मध्यममार्ग से चलना। मध्यममार्ग जीवन बिताना ही मध्यम प्रतिपदा है। यह प्रतिपद्-मार्ग-आठ अङ्गों वाली है-१ सम्यक् ज्ञान, २-सम्यक् संकल्प, ३-सम्यक् वचन, ४-सम्यक् कर्मान्त, ५-सम्य आजीव, ६-सम्यक् व्यायाम, ७-सम्यक् स्मृति तथा ८-सम्यक् समाधि। इस अष्टा ङ्गिक मार्ग के उपयोग से दु:खनिरोध अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। निर्वा प्राप्ति के लिए शरीर की शुद्धि आवश्यक है। शरीर की शुद्धि त्रिरत्न के सेवन होती है। त्रिरत्न का तात्पर्य शील, समाधि तथा प्रज्ञा से है। शील का तात्पर्य सात्त्विक कर्म है-१-अहिंसा, २-अस्तेय, ३-सत्य भाषण, ४-ब्रह्मचर्य, ५-मद्य का असे वन। यह पंचशील गृहस्थों के लिए है। बौद्ध भिक्षुओं के लिये ये पाँच तथा अपरा भोजन का त्याग, माला धारण का त्याग, संगीत का त्याग, स्वर्ण रजत का त्या एवं कीमती शय्या का परित्याग रूप पाँच अतिरिक्त शील भी आवश्यक हैं।

महात्मा बुद्ध के इन उपदेशों को ही आधार मानकर आगे चल कर बौद्ध धर्म में ४ दार्शनिक प्रस्थान बन गये-

१-वैभाषिक, २-सौत्रान्तिक, ३-योगाचार तथा ४-माध्यमिक। ये क्रम से बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी, बाह्यार्थानुमेयवादी, विज्ञानवादी तथा शून्यवादी हैं। प्रकृत सन्दर्भ में अनुपयोगी इनके विचार को यदि छोड़ दिया जाय तो संक्षेप में कहना होगा कि मुख्यत: चार विचार बुद्ध ने किया है। १-प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् कारण कार्य की सापेक्षता, २-कर्मवाद, ३-क्षणिकवाद, ४-आत्मा का अनस्तित्व। इस चौथे विचार के विषय में विसंवाद भी है।

यहाँ हम देखते हैं कि कुछ बातों को छोड़कर जैन दर्शन के ही विचार प्राय: शब्दान्तर से बौद्ध दर्शन को भी मान्य है। पर जहाँ श्रौत परम्परा में जीव की नित्यता

मानी जाती थी और जैन दर्शन ने उसमें नित्यता के अंश को हटाकर जीव की सत्ता मात्र को माना वहाँ बौद्ध धर्म ने जीव अर्थात् आत्मा की सत्ता को ससंदिग्ध समाप्त कर दिया। जीव नहीं है तो पुनर्जन्म किसका होता है, इस प्रश्न को बौद्ध दर्शन के हीन-यान ने यह कहकर समाहित किया कि विभिन्न अवस्था की सन्तति ही जीवन है। इस अवस्था की उत्पत्ति पूर्ववर्त्ती अवस्था से होती है तथा वर्तमान अवस्था आगे आने वाली अवस्था की उत्पत्ति में कारण बनेगी।

यहाँ एक घटना का स्मरण कराना आवश्यक है। महात्मा बुद्ध ने जिस दिन अपना अन्तिम प्रवचन दिया उस दिन केवल उनके प्रधान शिष्य आनन्द ही उपस्थित थे। शेष स्थविर नहीं आये। शास्ता ने उस दिन अपना अन्तिम प्रवचन किया जो पूर्व प्रवचनों से भिन्न था। आनन्द ने शङ्का उठाई। शास्ता ने आदेश दिया–आनन्द ! यह मेरा अन्तिम प्रवचन ही वास्तविक है। कहा जाता है कि वही महायान सम्प्रदाय का मूल बना। यदि इस घटना को ध्यान में रखें तो यह कहना पड़ेगा कि सामान्य अकिञ्चित्कर परिवर्तन के साथ शास्ता का यह नूतन सम्प्रदाय श्रौत परम्परा के अतीव निकट था। यही कारण था कि महाकवि जयदेव ने शास्ता के इस रूप को ध्यान में रखकर लिखा–

> निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्
> सदयहृदयदर्शितपशुघातम्
> केशव धृतबुद्धशरीर–जय जगदीश हरे।

वेदप्रामाण्यवादी षड्दर्शन तथा वेदाप्रामाण्यवादी तीन दर्शनों के इस सामान्य विवेचन करने पर भी भारतवर्ष के दर्शनप्रस्थान की सीमा समाप्त नहीं होती है। प्रमुख रूप से इन दर्शनों के बाद कुछ सामान्य परिवर्तन के साथ कई दर्शन अस्तित्ववान् दिखाई पड़ते हैं, जैसे वैष्णव दर्शन, शैव दर्शन, शाक्त दर्शन। इन दर्शनों में भी अवान्तर भेद से अनेक दर्शन बनते हैं। जिनका संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक है।

—:०:—

# तृतीय अध्याय

## अवान्तर दर्शनों के उद्भव का कारण तथा स्वरूप

वेदप्रामाण्यवादी दर्शनों का सर्वमत सिद्धान्त यह निश्चित होता है कि एक ऐसी सत्ता है जो सर्वातिशायी है तथा उससे ही जगत् अपने स्वरूप में आया है उस सत्ता के स्वरूप को लेकर कई दर्शन उत्पन्न होने लगे। इनमें ही एक वैष्णव दर्शन है जो उस परम सत्ता का नाम "विष्णु' बताता है। विष्णु को प्रधान मानकर विवेचित दर्शन वैष्णव दर्शन कहा जाता है। इसमें भी अनेक सम्प्रदाय बनते हैं। यथा- रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य आदि।

### रामानुज दर्शन—

श्वेताश्वतर उपनिषद् के 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्' (१–१२) को प्रमाण मानते हुए यह दर्शन भोक्ता-जीव या चित्, भोग्य–जड प्रकृति या अचित् तथा प्रेरयिता-ईश्वर रूप त्रिविध तत्त्व मानता है। यह ईश्वर ही ब्रह्म है। ब्रह्म निर्गुण नहीं होता है। सृष्टिपूर्व की दशा में चित् तथा अचित् दोनों तत्त्व ब्रह्म में वर्तमान रहते हैं। जीव तथा जगत् यद्यपि नित्य पदार्थ हैं पर वे ईश्वर के अधीन हैं। ईश्वर अनन्त ज्ञान आनन्द आदि कल्याणगुणों से विभूषित सृष्टि, स्थिति, तथा प्रलय का कर्ता है। उपनिषद् में जहां ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है उसका तात्पर्य जीव के राग द्वेषादि गुणों-हेयगुणों–से उसे रहित दिखाना मात्र है। प्रलय काल में चित् तथा अचित् दोनों अपने सूक्ष्म रूप में ब्रह्म में रहते हैं। उस दशा में भी ब्रह्म चित् तथा अचित् के प्रभाव से मुक्त रहता है अतः वह कारण ब्रह्म कहलाता है। सृष्टि के समय वही कारण ब्रह्म जीव तथा भौतिक रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः वह कार्य ब्रह्म कहलाता है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" आदि वचनों का तात्पर्य अव्याकृत ब्रह्म से है। चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म की कल्पना के कारण इस मत को विशिष्टाद्वैत मत कहा जाता है। इस मत में जीव विभु नहीं, अपितु, अणु रूप माना जाता है। 'देहादि उपाधियों के कारण नाना रूप में प्रतीत जीव एक है' ऐसी बात इस मत में स्वीकृत नहीं है। इस मत में जीव अनन्त हैं। अनन्त शक्ति सम्पन्न ईश्वर का अचित् अंश प्रकृति-जो त्रिगुणात्मिका तथा ईश्वराधीन है-तेज जल तथा पृथ्वी रूप में विभक्त होकर स्थूल पदार्थों की उत्पादिका बनती है। मिश्रण की क्रिया को त्रिवृत्करण कहा जाता है। ईश्वर की अपनी शक्ति ही माया है। यह माया वास्तविक है तथा सृष्टि व्यापार भी वास्तविक है। माया का विपरिणाम ही संसार है। ईश्वर भक्ति रूप साधन के बल पर जीव ईश्वर के समान

हो जाता है । जीवन्मुक्ति की दशा कभी 'नहीं' होती है, अपितु, जीवन के बाद वैकुण्ठ में भगवान् की किंकरता की प्राप्ति ही मुक्ति है।

**मध्व दर्शन—**

यह द्वैत दर्शन है। इस दर्शन में १– द्रव्य २– गुण ३– कर्म ४– सामान्य ५– विशेष ६– विशिष्ट ७– अंशी ८– शक्ति ९– सादृश्य तथा १०– अभाव भेद से १० पदार्थ माने जाते हैं।

द्रव्य भी २० प्रकार का माना जाता है १– परमात्मा २– लक्ष्मी ३– जीव ४– अव्याकृत आकाश ५– प्रकृति ६– गुणत्रय ७– महत् तत्त्व ८– अहंकार तत्व ९– बुद्धि १०– मन ११– इन्द्रिय १२– मात्रा १३– भूत १४– ब्रह्माण्ड १५– अविद्या १६· वर्ण १७– अंधकार १८– वासना १९– काल २० प्रतिविम्ब । गुणों में वैशेषिक समस्त सभी २४ गुण तथा शम, दम, कृपा, तितिक्षा, सौन्दर्य आदि की गणना होती है।

यहां सभी पदार्थों का विश्लेषण करना सन्दर्भ को बढ़ाना होगा। संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वेदप्रामाण्यवादी सभी दर्शनों का कुछ तथा कुछ अपने का समन्वित रूप इस दर्शन में मिलता है। इस दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ही प्रमाण माने जाते हैं। श्रेष्ठ तत्त्व स्वयं हरि होते हैं । जगत् सत्य है। ईश्वर का जीव तथा जड से भेद होता है। जीव का जड से तथा अन्य जीवों से भेद होता है। एक जड पदार्थ भी दूसरे जड से भिन्न होता है। अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के बाद भक्ति की प्राप्ति होती है। अनन्तर ईश्वर के अनुग्रह से मुक्ति की प्राप्ति होती है जो सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य भेद से चार प्रकार की होती है।

**निम्बार्क दर्शन—**

निम्बार्क दर्शन में भी चित्, अचित् तथा भगवत् रूप तीन तत्त्व माने जाते हैं। चित् जीव ज्ञान स्वरूप है तथा ज्ञान का आश्रय भी है। वह सांसारिकी अवस्था या मुक्तावस्था दोनों ही अवस्थाओं में कर्ता ही रहता है। यह इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करता है, इस लिए भोक्ता भी है। परन्तु इस कार्य में वह स्वतन्त्र न होकर ईश्वरपरतन्त्र रहता है। ईश्वर नियन्ता है तथा वह नियम्य है। यह जीव परिणाम में अणु होता है फिर भी अपने व्यापक ज्ञानलक्षण गुण के कारण वह सकल शरीर में रहने वाले सुख दुःखों का अनुभव करता है। यह जीव संख्या में अनन्त तथा हरि का ही अंश होता है । अंश का तात्पर्य शक्ति से है । सर्वशक्तिमान् हरि अंशी तथा

जीव अंश अर्थात, शक्ति रूप होता है। भगवान् की कृपा से जीव को सच्चे स्वरू का ज्ञान होता है। अन्यथा यह गुणमयीमाया के कारण अपने स्वरूप ज्ञान में संकुचि रहता है।

अचित् के प्राकृत, अप्राकृत तथा काल रूप तीन भेद होते हैं। महत्तत्व से भू पर्यन्त जगत् को प्राकृत तथा प्रकृति से बहिर्भूत विष्णु पद, परम पद आदि रूप जगत को अप्राकृत तथा परिणामों के जनक को काल कहते हैं।

प्राकृत दोषों से रहित अशेष कल्याण गुणों का निधान उत्पत्ति, स्थिति, प्रल का हेतु सर्वत्र व्याप्त ईश्वर है और वह सगुण है। परब्रह्म, नारायण, भगवान् कृष्ण आदि उसके नाम हैं। ईश्वर तथा जीव में भेदाभेद सम्बन्ध रहता है। जीव की मुक्ता वस्था में भी ईश्वर से उसका भेद रहता है, यद्यपि वह उसका अंश है। जीव ईश्व के शरण में आकर ही मुक्त हो सकता है। इस मत में जीवन्मुक्ति के स्थान पर विदेह मुक्ति ही मान्य है।

## वल्लभ दर्शन—

वल्लभ दर्शन के अनुसार ब्रह्म माया से सर्वथा अलिप्त रहता है। चूंकि वह स धर्म विशिष्ट होता है अतः अनुरोधी तथा विरोधी दोनों धर्म उसमें स्वतः अवस्थित रहते हैं। यह नहीं है कि माया के कारण उसमें विरुद्ध धर्मों का प्रतिभास होता है उसकी महिमा बहुत बड़ी है। एक साथ ही वह अणु से भी छोटा तथा महान से भ महान है। व्यवस्था की दृष्टि से उसके तीन रूप होते हैं— १. आधिदैविक-परब्रह्म २. आध्यात्मिक-अक्षरब्रह्म, ३. आधिभौतिक जगत्। यह ब्रह्म ही आविर्भाव दशा में जगत् तथा तिरोभाव दशा में ब्रह्म कहलाता है। जगत् का आविर्भाव लीला मात्र है उसके विलास की इच्छा का ही नाम लीला है। शरणागत जीवों को मुक्ति देने के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। आधिदैविक ब्रह्म में जब आनन्दांश का अंश कुछ मात्रा में तिरोहित होता है तब वह अक्षरब्रह्म होता है। यह ही जीव है। इसमें हेतु उसके रमण की इच्छा है। इसके द्वारा वह आधिभौतिक क्षरब्रह्म का भोग करता है। जीव का निर्गमन भगवान् के अविकृत चिदंश से तथा जड-प्रकृति का निर्गमन अविकृत सदंश से होता है। जीव और जगत् दोनों ब्रह्म के परिणाम हैं परन्तु इससे ब्रह्म में कोई विकार नहीं आता है। यहां अविकृत परिणामवाद भी कहा जा सकता है। अविद्यामिलन से पूर्व का जीव शुद्ध तथा अविद्यासम्पृक्त संसारी तथा भगवत्कृपा से अन्त में मुक्त होता है। जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता है, अपितु, इसे आवि-र्भाव, तिरोभाव कह सकते हैं।

भगवान् की प्राप्ति ही जीव का मुख्य लक्ष्य है जो भक्ति से सुलभ है। कर्म के द्वारा आधिभौतिक ब्रह्म–जगत्–के ज्ञान के द्वारा आध्यात्मिक ब्रह्म–अक्षर ब्रह्म की तथा भक्ति के द्वारा आधिदैविक ब्रह्म-परब्रह्म-की प्राप्ति होती है। जडता को छोड़कर जीव का आनन्दस्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है।

## चैतन्य दर्शन :-

अनेकशक्तिसम्पन्न, अनन्तगुणधाम भगवान् की मुख्यत: तीन शक्तियां हैं १–स्वरूप शक्ति, २–तटस्थ शक्ति ३–माया शक्ति। स्वरूपशक्ति-चित् शक्ति-ही अन्तरङ्ग शक्ति है। इसके प्रथम भेद सन्धिनी शक्ति के आधार पर भगवान् सत्ता धारण करते हैं दूसरों को सत्ता प्रदान करते हैं तथा सभी देश, काल, एवं द्रव्य में व्याप्त रहते हैं। द्वितीय भेद संवित् शक्ति से भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हैं तथा दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं। तृतीय भेद ह्लादिनी शक्ति द्वारा स्वयं आनन्दित होते हैं तथा दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं। तटस्थ शक्ति-जीवशक्ति-जीवों के आविर्भाव का कारण है। वहिरङ्ग शक्ति-माया शक्ति-से जगत् का आविर्भाव होता है।

जगत् सत्य है पर वैराग्य के लिये इसे अनित्य कहा जाता है। भगवान् को वश में करने का उपाय भक्ति है पर यह भक्ति केवल उपायभूत ही नहीं है, अपितु, उपेय भी है। एक प्रकार से यह पञ्चम पुरुषार्थ है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि शङ्कराचार्य के मायावाद के विरोध में सभी वैष्णव दर्शन समान रूप से स्थित हैं पर उनमें परस्पर में भी सामान्य सा भेद है। रामानुज चिदचित् विशिष्ट ब्रह्म की अद्वैतता मानते हैं। निम्बार्क चिदचित् को ईश्वर से भिन्नाभिन्न मानकर भेदाभेद का प्रतिपादन करते हैं। मध्वमत जीव तथा ईश्वर में द्वैतभाव का समर्थक है। वल्लभमत माया सम्बन्ध रहित शुद्ध ब्रह्म को मानता है तथा चैतन्यमत भगबान् में अचिन्त्य शक्ति को मानकर अचिन्त्यभेदाभेद का समर्थन करता है।

जिस दर्शन में परमसत्ता की अभिख्या "शिव" होती है वह शैव दर्शन कहलाता है। शैव दर्शन भी पाशुपत-शैवसिद्धान्त-वीर शैवमत-प्रत्यभिज्ञा आदि भेद से अनेकधा विभक्त है।

## पाशुपत दर्शन--

इस दर्शन के अनुसार पांच पदार्थ होते हैं— कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति न हो उसे कार्य कहते हैं, जैसे–जीव और जड। सृष्टि

संहार एवं अनुग्रह के हेतु को कारण कहते हैं, जैसे- महेश्वर, पशुपति। अपरिमितशक्ति विशिष्ट महेश्वर ही जीवों को प्रत्यक्ष करते हैं तथा पालन करते हैं अतः यह परमेश्वर कहे जाते हैं। चित्त के द्वारा आत्मेश्वर सम्बन्ध को योग कहते हैं। क्रियात्मक योग में जप, ध्यान, धारणा का प्राविधान होता है तथा क्रियोपरम योग में ऐकान्तिक भक्ति, ज्ञान तथा शरणागति का समावेश होता है। जिस व्यापार से महेश्वर की प्राप्ति हो उसे विधि कहते हैं। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति या मोक्ष ही दुःखान्त कहलाता है। केवल दुःखों की आत्यन्तिक निवृति अनात्मक दुःखान्त है तथा जिसमें साथ ही परमैश्वर्य का लाभ भी हो उसे सात्मक दुःखान्त कहा जाता है।

## शैवसिद्धान्त दर्शन—

इस दर्शन में शिव, शक्ति और विन्दु नामक तीन रत्न माने जाते हैं। शिव शुद्ध तत्त्वमय शुद्ध जगत् के कर्ता होते हैं तथा कारण है शक्ति एवं विन्दु। शिव की समवायिनी शक्ति शिव में समवेत भाव से रहती है। यह शिव की स्वरूप शक्ति कहलाती है। शिव की परिग्रहरूपा शक्ति परिणामशालिनी होती है, जिसे विन्दु कहते हैं। विन्दु के दो भेदों में शुद्ध विन्दु का नाम महामाया तथा अशुद्ध विन्दु का नाम माया है। महामाया शुद्ध अध्वा-सात्त्विक जगत् का उपादान कारण है तथा माया अशुद्ध अध्वा-प्राकृत जगत् का उपादान कारण बनती है। शिव की पारिभाषिकी संज्ञा "पति" है। इस दर्शन में मुख्यतः तीन पदार्थ होते हैं। (१) पति (शिव), (२) पशु (जीव) तथा (३) पाश (मल) आदि। पति में परमैश्वर्य (स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व) रहता है। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रहकरणरूप कृत्य पञ्चक के कर्ता शिव होते हैं। यहां यह भी जानना चाहिए कि शुद्धाध्व के पञ्च कृत्यविधायक को परमशिव तथा अशुद्धाध्व के पञ्चकृत्य के विधायक विद्येश्वर आदि कहे जाते हैं। शिव की दो अवस्थायें होती हैं- (१) लयावस्था, (२) भोगावस्था।

अणु तथा सीमित शक्तियुक्त क्षेत्रज्ञ जीव ही पशु है। वह कर्ता, व्यापक, प्रकाश-रूप तथा अनेक होता है। पाश में मल कर्म माया तथा रोधशक्ति गृहीत होती है। इन मलादि का अपनयन परमशिव की अनुग्रह शक्ति से होती है।

## वीरशैव दर्शन :-

इस दर्शन को शक्तिविशिष्टाद्वैतदर्शन भी कहते हैं। यह दर्शन कर्मप्रधान है। चूंकि यह निष्काम कर्म का मार्ग बताता है अतः यह वीर मार्ग कहलाता है। इस दर्शन में शिव शक्तिविशिष्ट होते ही हैं, जीव भी शक्ति विशिष्ट होता है।

सूक्ष्म चिदचिदविशिष्ट शक्ति शिव में तथा स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति जीव में रहती है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ शक्ति से भिन्न कोई शक्तिमान् नहीं तथा शक्तिमान से भिन्न कोई शक्ति नहीं हैं। इस दर्शन में सर्वथा अभेद रहता है। शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। इस दर्शन में जगत को सत्य माना जाता है। यहाँ उत्पत्ति और विनाश के स्थान पर शक्तिविकाश और शक्तिसंकोच शब्द का प्रयोग होता है। चलते समय कच्छप पैर बाहर निकालता है तथा रुकने पर अन्दर कर लेता है। क्या इसे उत्पत्ति विनाश कहेंगे ? जीव भी शिवांश ही है। शिव और जीव में भेदाभेद है। अपनी स्वाभाविक भक्ति शक्ति से परम शिव के साथ जीव की जो एकभावापत्ति होती है वही मुक्ति है। गुरु की कृपारूपिणी दीक्षा से भक्ति की जागृति होने पर शिव के साथ एकता हो पाती है।

## प्रत्यभिज्ञा दर्शन :-

शिव और शक्ति का सामरस्य रूप एक अद्वय परमेश्वर ही परम तत्त्व है। जो चैतन्य रूप तथा निर्विकार रूप से जगत् के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है, उसी को परासंवित् अनुत्तर, परमेश्वर अथवा परम शिव कहा जाता है। परमेश्वर अपने विश्वात्मक रूप भाव से व्यापक तथा विश्वोत्तीर्ण रूप भाव से सभी पदार्थों का अतिक्रमण करते हैं। यह जगत् परम शिव से भिन्न नहीं है, अपितु, उसका स्फुरण मात्र है। स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्न परमेश्वर अपने ही आधार में जगत् का उन्मीलन करते हैं। इस दृष्टि से परमेश्वर शिव एक विलक्षण कलाकार हैं। क्योंकि "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वम् उन्मीलयति (प्र० हृ० सूत्र २)। आश्चर्य है कि इस सृष्टि में कोई उपादान नहीं होता है और न तो आधार ही होता है।

यद्यपि परमेश्वर की अनन्त शक्तियां हैं पर उनमें पांच प्रधान हैं– (१) चित्, (२) आनन्द, (३) इच्छा, (४) ज्ञान तथा (५) क्रिया। चित् शक्ति के द्वारा वह स्वयं प्रकाशित होते हैं। स्वातन्त्र्यरूपा आनन्द शक्ति के द्वारा वे स्वयं का अनुभव करते हैं। अपनेको अविघात इच्छा सम्पन्न समझना इच्छाशक्ति का कार्य है। वेद्य पदार्थों का ज्ञान ज्ञानशक्ति के द्वारा एवम् सर्वाकार धारणा की योग्यता क्रिया शक्ति से होती है। यह जगत् परमेश्वर का स्वेच्छा परिगृहीत रूप है। कर्तृत्वसम्पन्न परमेश्वर सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह तथा विलयरूप पांच कृत्यों का सम्पादक है। पर जिस प्रकार दर्पण में प्रतिविम्बित विम्ब प्रतिविम्ब से अभिन्न होने पर भी भिन्न है उसी प्रकार परमेश्वर में प्रतिविम्बित यह विश्व अभिन्न होने पर भी घटपटादि रूप से भिन्न प्रतीत होता है। चिन्मयीशक्ति का स्फुरण विश्व असत्य नहीं है।

इस दर्शन में ३६ तत्त्व माने जाते हैं १- शिव २ शक्ति ३- सदाशिव ४- ईश्वर ५- शुद्ध विद्या ६- माया ७- कला ८- विद्या ९- राग १०- काल ११- नियति १२- पुरुष १३- प्रकृति १४- बुद्धि १५- अहंकार १६- मन १७- श्रोत्र १८- त्वक १९- चक्षु २०- जिह्वा २१- घ्राण २२- वाक २३- पाणि २४- पाद २५- पायु २६- उपस्थ २७- शब्द २८- स्पर्श २९- रूप ३०- रस ३१- गन्ध ३२- आकाश ३३- वायु ३४- अग्नि ३५- जल ३६- पृथिवी।

शिव एवं शक्ति में अभेद चन्द्र एवं चन्द्रिका के समान होता है। शिवत्व लाभ रूप मोक्ष के लिए प्रत्यभिज्ञा एक प्रधान साधन है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ होता है ज्ञात वस्तु को ठीक से जानना। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी के गुणादि को सुनकर आकृष्ट हो पर उसे पहचानता न हो तो भेंट होने पर भी कोई आनन्द नहीं मिलेगा। पर यदि कोई यह बता दे कि यही वह व्यक्ति है तो उसे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हो जायेगी। यही स्थिति यहां भी है। आणव, शाक्त, शाम्भव आदि उपायों के द्वारा व्यक्ति में आत्म चैतन्य का स्फुरण होने पर जब गुरु के द्वारा 'शिव'' की पहचान हो जाती है तो चिदानन्द लाभ हो जाता है। इसके लिए ज्ञान और भक्ति दोनों आवश्यक हैं। यतः ज्ञानोत्पत्ति के बाद की भक्ति अहैतुकी निर्व्याज होती है अतः वही वास्तविक होती है।

## शाक्त दर्शन :—

जिस दर्शन में परम सत्ता के रूप में शक्ति की मान्यता है वह दर्शन शाक्त कहलाता है। शक्ति और शिव का सामरस्य यहां भी माना जाता है। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है तथा शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं।

शिवतत्त्व में शिवभाव प्रधान तथा शक्तिभाव गौण रहता है तथा शक्तितत्त्व में शक्तिभाव प्रधान तथा शिवभाव गौण रहता है। तत्त्वातीत दशा में किसी की भी प्रधानता नही है। यही शिव शक्ति सामरस्य है।

शाक्त दर्शन के अनुसार पराशक्ति से उत्पन्न शिव जगत् का उन्मीलन करते हैं। शक्ति में रूप भेद की कल्पना करके इस सामरस्य को कभी कामेश्वर-कामेश्वरी सामरस्य तथा कभी काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी तथा कमला रूप से १० महाविद्याओं की उपासना भिन्न भिन्न प्रकार से होती है।

—:o:—

# चतुर्थ अध्याय

## निष्कर्ष :—

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अनुरोधी अथवा विरोधी किसी न किसी भाव से श्रौत परम्परा के ही निकट दौड़ लगाते हैं। इन दर्शनों की स्थापना में बुद्धि तथा युक्ति का कौशल सर्वत्र दिखाई देता है। नास्तिक दर्शनों में यह कौशल पराकाष्ठा को प्राप्त है। परन्तु संज्ञा बदलने से वस्तु नहीं बदलती तथा सद् वस्तु का अपलाय करने से भी सत्ता का अपलाप नहीं होता है। सामान्यजन सद्यः, तर्क कौशल से पराभूत होते हैं पर कालान्तर में उनकी सन्तति शनैः शनैः उधर ही स्वतः बढ़ चलती है जिसमें कालातीत सत्यता रहती है। सैद्धान्तिक उन्माद के वशीभूत जनों की दृष्टि एकाङ्गी होती है पर वे भी एक दिन अनायास उधर ही चल पड़ते हैं, जिधर लोकप्रवृत्ति स्वतः उन्मुख करती है। इस लोक प्रवृत्ति से उत्पन्न जिस दृष्टि का विकाश होता है वही साहित्य दर्शन है। साहित्य दर्शन की यही मौलिकता है। इस दर्शन के विषय में किसी देश, किसी काल, किसी जाति तथा किसी सम्प्रदाय में कोई विरोध नहीं होता है। अदृष्ट के विषय में विसंवादी क्या प्रेम में भी विसम्बाद रखते हैं ? इतना अवश्य है कि साहित्य दर्शन का प्रयोक्ता यदि अपने अज्ञात अन्तर्मन की अज्ञात वासनाओं से अज्ञात रूप में भी ग्रस्त होगा तो उसका साहित्य कभी कभी उस प्रकार का गन्ध उड़ेलने लगेगा। फिर भी साहित्य का अपलाप नहीं हो पाता है। दार्शनिकों की हठवादिता तथा सद्विषय वर्णन में पराङ्मुखता को लक्ष्य करके ही योगिराज भर्तृहरि ने लिखा :—

एकस्यापि च शब्दस्य निमित्तैरव्यवस्थितैः।
एकेन बहुभिश्चार्थो बहुधा परिकल्प्यते॥
तस्माददृष्टतत्त्वानां सापराधं बहुच्छलम्।
दर्शनं वचनं चापि नित्यमेवानवस्थितम्॥ (वा०प० २/१३७-१३८)

अर्थात अव्यवस्थित निमित्तों के द्वारा एक शब्द का भी एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्ति बहुत प्रकार के अर्थो की परिकल्पना करते हैं। अदृष्टतत्त्व पुरुषों का वचन तथा दर्शन निश्चित रूप से अनवस्थित होता है। अनेक छलों से युक्त वह दर्शन अपराध युक्त ही है (क्योंकि वह भ्रान्ति फैलाने वाला है)। तर्क के आधार पर खड़ा किया गया दर्शन का प्रासाद तब तक ही रहता है जब तक कि उससे प्रबल तर्क नहीं उपस्थित होता है। प्रबलतम तर्क से किसी भी वचन को झुठलाया जा सकता है।

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥ (वा०प० १/३४)

तर्क की इस अव्यवस्था से चिढ़कर यदि कोई प्रत्यक्ष के आधार पर व्यवस्थित दर्शन को दर्शन मान बैठे जैसे लोकायत दर्शन, तो भी हमें भर्तृहरि सचेत करते हैं कि—

तस्मात् प्रत्यक्षमप्यर्थं विद्वानीक्षेत युक्तित: ।
न दर्शनस्यप्रामाण्यात् दृश्यमर्थप्रकल्पयेत् ।। (वा०प० २/१४१)

अर्थात् किसी दर्शन में प्रामाणिकता मानकर दृश्य अर्थों की परिकल्पना नहीं करनी चाहिए, अपितु, प्रत्यक्ष अर्थ की भी युक्तिपूर्वक समीक्षा करनी चाहिये। प्रत्यक्ष में भी अति दूर अति सामीप्य, इन्द्रियघात, मन की अव्यवस्थिति, सूक्ष्मता, व्यवधान, किसी के द्वारा अभिभूत होना तथा सम्मिश्रण के कारण वस्तु का समुचित ज्ञान नहीं होता है। आप्तवचन के आधार पर यदि दर्शन की मान्यता को स्वीकार कर लें तो आप्तता में विसंवाद हो जायेगा। जैनागम तथा बौद्धागम स्वयं भिन्न हैं तो आप्तता कहां ठहरेगी ? ऐसी स्थिति में उस संविदरूपा परा भगवती को ही प्रमाण मानना चाहिये जिसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता है। असंसृष्ट पदार्थों का मेलन प्रतिभा ही कराती है। चन्द्र की किरणें कब शीतलता प्रदान करेंगी तथा कब दाहकता की अनुभूति करायेंगी, यह प्रतिभा का विषय है। इस विषय में किसी की मान्यता की अपेक्षा स्व तथा स्वसदृश की प्रतिभा ही प्रमाण होती है, इसमें सर्वरूपता होती है। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है कि—

उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता ।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ।। (वा०प० २/१४५)

बहुत दौड़ने की आवश्यकता नहीं है। स्वान्त: स्थ अविच्छिन्न चैतन्य से पूछना चाहिये तथा उसका ही निर्णय शिरोधार्य करना चाहिये। उसका निर्णय व्यवस्थित पूर्वपरम्परा से अविरुद्ध ही होगा।

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते ।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ।। (वा०प० १/४१)

ऐसा दर्शन वह ही हो सकता है जिसका हेतु प्रतिभा, अभ्यास तथा लोक एवं शास्त्र का अवेक्षण होता है। कहना नहीं है कि वह दर्शन "साहित्य दर्शन" है। इस शाश्वत साहित्य दर्शन को जानने के लिए अग्रिम प्रकरण का न्यास किया गया है।

—:०:—

उत्तरार्द्ध

# पञ्चम अध्याय

## साहित्य दर्शन की पूर्वभूमिका

जिन दिनों भारतवर्ष में श्रौत धर्म का पूरा पालन हो रहा था। साथ ही अनेक दर्शनों के सिद्धान्त को मानने वाले भी थे। वर्णाश्रम व्यवस्था का अनुवर्तन हो रहा था। प्रत्येक वर्ण में अनेक प्रबुद्ध जन थे। देव, मनुष्य तथा राक्षस वृत्तियों के लोग अपने ढंग से जी रहे थे। यतियों में भी कोई वैखानस, कोई बालखिल्य, कोई सम्प्रक्षाल, कोई मरीचिप थे। दन्तोलूखलिन्, उन्मज्जक, गात्रशय्य, अनवकाशिक, मौनी, सलिलाहार, वायुभक्ष, आकाशनिलय, स्थण्डिलशायी, उर्ध्ववासी, दान्त, आर्द्रपटवासी, जपशील, तपोनिष्ठ, पञ्चतपा आदि समाज में अपने अपने ढंग से जी रहे थे। उन्हीं दिनों एक प्राचेतस ब्राह्मण कुमार कुसङ्ग में पड़कर साहसिक बन गया। सप्तर्षि की कृपा से जब उसे कुछ बोध हुआ तो उसने भी निन्द्याचरणपरित्यागपूर्वक तपोवृत्ति का समाश्रयण लिया तथा वाल्मीकि नाम से एक प्रसिद्ध ऋषि हो गया। पहले प्राणिहत्या का व्यसनी पर अब उसके रहस्य को ठीक से जानने वाला वह ऋषि तमसा के तट पर एक व्याध के द्वारा काममोहित क्रौञ्च दम्पती में से एक को मार दिये जाने पर करुणा से आर्द्र होकर कह उठा—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्,

और यही वह क्षण था, जिस दिन साहित्यदर्शन ने जन्म लिया।

उन दिनों सब कुछ था। जिन्हें लोग अवान्तर काल में पञ्चशील तथा पञ्चमहाव्रत नाम से जानने लगे, जो पहले यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान तथा समाधि नाम से जाना जाता था, वह सब कुछ था पर यदि नहीं था तो उस भाव का प्रसार नहीं था तथा जिसकी नितान्त आवश्यता थी। वह था मानवताभाव। किसी भी प्रकार से, चाहे ब्रह्यैक्यबुद्धि से या प्रकृति के रहस्य को जानकर या जिन बन कर अथवा अविद्याविनाश के द्वारा बुद्ध होकर अपने पुनर्जन्म को रोकना किसी व्यक्ति को अभीष्ट हो सकता है पर समाज में सबके साथ रहकर

**सहानुभूतिपूर्वक** जीवन बिताने के मार्ग का अन्वेषण व्यवस्थित ढंग से यदि न होगा तो सुव्यवस्था नहीं हो सकती है। फलतः वाल्मीकि ने धर्ममुखेन धर्म के प्रति पादन के स्थान पर धर्मिमुख से धर्म को समाज के समक्ष उपस्थित किया।

ब्रह्मा से अनुप्रेरित होकर साहित्य सर्वस्व काव्य लिखने के संकल्प से वाल्मी ने एक ऐसे व्यक्ति का अन्वेषण करना प्रारम्भ किया जो मानवता का प्रतीक तथा जिसके चरित को लिखने से धर्म स्वयम् अपने रूप में अनावृत होकर उपस्थि हो सके। यही था धर्मीमुख से धर्म का प्रतिपादन। तपःस्वाध्याय में नि **वाग्विदोंमें श्रेष्ठ** तथा मुनिपुङ्गव नारद से ऐसे व्यक्ति के विषय में वाल्मीकि जिज्ञासा की। नारद ने स्पष्ट कहा कि वर्तमान में राम ही ऐसे व्यक्ति हैं विग्रहवान् धर्म हैं। क्योंकि उन्हीं मे एक साथ गुण वीर्य धर्म कृतज्ञता सत्य दृढव्रत चारित्र्य सर्वभूतहितपरता विद्वत्ता समर्थता तथा प्रियदर्शनता उपस्थित है। आत्मवान हैं। उन्होंने क्रोध को जीत लिया है। द्युतिमान राम में असूया नहीं उनका अनुभाव ऐसा है कि यदि वे युद्ध में प्रवृत्त हों तो देवगण भी उनके सा नहीं ठहर सकता है। नारद ने बताया कि इतना ही नहीं, अपितु, सम्पूर्ण शारी लक्षणों से युक्त राम सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ हैं। वे गाम्भीर्य में समुद्र के समान, में हिमवान् के समान तथा वीर्य में विष्णु के सदृश हैं। सोम के समान प्रियद राम को अत्यन्त आवश्यकता होनेपर जब क्रोध होता है तो वे कालाग्नि के सम प्रतीत होते हैं पर वही क्षमा में पृथिवी के समान हैं। वाल्मीकि की जिज्ञासा श हो गई तथा उन्होंने राम के माध्यम से उस दर्शन की अवतारणा करने की योज बना ली, जिसमें वाक् तथा अर्थ के उस साहित्य का प्रदर्शन हो जो व्यक्ति त समाज दोनों का उद्धारक हो।

## साहित्य शब्द का अर्थ -

साहित्य शब्द अपेक्षाकृत नवप्रयुक्त शब्द है। इसका पुराना नाम काव्य काव्य का अर्थ होता है-- कवि का कर्म। क्रान्तदर्शी को कवि कहते हैं। क्रान्त का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो लोकोत्तर वागर्थ का उपस्थापक हो। भर्तृहि लिखा है--

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। (वा०प० १/१२३)

शब्दार्थ के इस अविनाभाव रूप गुम्फन के कारण ही काव्य के लिए सा शब्द का प्रयोग हुआ, जिसका तात्पर्य है- शब्दार्थयोः सहभावेन उपस्थितिः साहित्य सामान्य व्यवहार में शब्द और अर्थ तो सर्वत्र साथ ही रहते हैं। इसलिए यहां

ाहित्य एक विशेष प्रकार के साहित्य को द्योतित करता है जो अन्तस्तत्त्व को द्रुत करने में सर्वथा समर्थ हो तथा जिसमें वह भावना भी हो जिसकी ओर वाल्मीकि आकृष्ट हुये थे। इसीलिए साहित्य की एक व्युत्पत्ति यह भी होती है– हितेन सह हितम। सहितस्य भाव: साहित्यम्। राजशेखर के अनुसार 'शब्दार्थयो: यथावत्सह-भावेन विद्या साहित्यविद्या' है अर्थात् साहित्य उस विद्या का नाम है जिसमें शब्द और अर्थ सहभाव से रहते हैं। इसे अत्यन्त विभक्त करते हुये भोजराज ने लिखा— तत्राभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोषहानगुणोपादानालङ्का-रस वियोगरूपा: शब्दार्थयो: द्वादश सामर्था: साहित्यमित्युच्यते'। पर यह विवरण साहित्य के बाह्यरूप को बताता है। वस्तुत: उसके आभ्यन्तर स्वरूप की विवृति रुय्यक ने की है। वे लिखते हैं–

साहित्यमनयो: शोभाशालितां प्रति काप्यसौ
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति:। (कुन्तक-काव्यालङ्कार १/१७)
मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदय:
अलङ्करणविन्यासो वक्रतातिशयान्वित:।
वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि।
सा काप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुन्दरा
पदादिवाक्परिस्पन्दसार: साहित्यमुच्यते। (वक्रोक्तिजीवित १।३४-३६)

सहृदयों में आह्लाद उत्पन्न करने के लिए सन्नद्ध शब्द और अर्थ की उस मनोहारिणी स्थिति को साहित्य कहते हैं, जिसमें न्यूनता तथा अतिरेक दोनों न हों पर जिनमें मार्गानुगुणसुभगता, माधुर्यादिगुणोपस्थिति, अलङ्कारों का विन्यास, वक्रता की अतिशयता, वृत्ति और औचित्यजन्य मनोहारिता तथा रसों की परिपुष्टि हो। सारांश यह है कि वहां यह प्रतीति अत्यन्त आवश्यक है, जिससे कहा जा सके कि यहा शब्द और अर्थ परस्पर में स्पर्द्धा कर रहे हैं। शब्दार्थ के उस लोकोत्तर स्थिति को साहित्य कहते हैं जिसमें पद, वाक्य तथा प्रमाण की सुप्रयुक्तता तथा शब्दार्थ के जानने वालों में आनन्द संचार कराने की सुभगता हो।

## क्या साहित्य दर्शन है–

यह पहले लिखा जा चुका है कि अर्थतत्त्व को जानने का साधन तथा तत्साधन-गृहीत सिद्धान्त दर्शन कहलाता है। यहां यह देखना आवश्यक है कि 'अर्थतत्त्व' शब्द का अभिप्राय क्या है तथा 'साधन' का अभिप्राय क्या है ? दार्शनिकों ने जगत्संरचना

तथा उसके कारण एवं पश्चात् प्रभाव' का ही आकलन किया है। अत: वे इन्हें
अर्थतत्त्व या प्रमेय कहते हैं। साथ ही स्वमत की सिद्धि में जिन्हें उपस्थित करते
उन्हें प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार प्रमाण प्रमेय का आकलन ही दर्शन है, जो किसी
किसी धर्म का अनुयायी होता है। पर साहित्य इससे भिन्न है। साहित्य किसी
विशेष का पिछलग्गू नहीं है और न तो इनसे कोई पूर्वाग्रह ही पाल रखा है। इस
क्षेत्र बड़ा विशाल है। इसके एक अङ्ग के विषय में कहा जाता है कि–

न तज्ज्ञानं न तत् शिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।। (भ० ना० १/११

जहाँ तक वाग्व्यवहार की सीमा है तथा जो अतीन्द्रिय विषय भी हैं, उन
को साहित्य में अर्थतत्त्व शब्द से समझा जाता है। प्रतिभापुर:सर लोकदर्शन, शास्
ध्ययन तथा साहित्यज्ञ के साधु सम्पर्क से ऐसी दृष्टि का विकास होता है जो साहि
दर्शन के लिए अपेक्षित प्रमाण जुटाता है। दर्शन के लिए शास्त्र शब्द का प्रय
प्रचीन काल से होता आ रहा है तथा सभी शास्त्र प्रयोजन विशेष से एक दृष्टि
उपस्थापना करते हैं, साहित्य भी करता है। इसे शास्त्र कहा जाता है अत: इसे द
कहने में कोई व्यवधान नहीं है। प्राय: दर्शन शास्त्र सुहृत्सम्मित एवं वेदादिशा
प्रभुसम्मित होते है पर साहित्य दर्शन की व्यवस्था में कान्तासम्मितता की मुख्य भूमि
रहती है। अर्थतत्त्व की उपलब्धि के लिए अन्य दर्शन जिन प्रमाणों को मानते हैं
सभी प्रमाणों को मानते हुये भी कुछ अतिरिक्त प्रमाण साहित्य दर्शन के पास
जिनका दिग्दर्शन अनुपद कराया जायगा। अत: प्रमाण पूर्वक प्रमेय की सिद्धि के का
साहित्य को दर्शन कहा जा सकता है। जटिल प्रमेय की बहुलता प्रमाण को नियन्
नहीं कर सकती है। जीव का उद्धार कैसे हो, जगत् का बन्धन कैसे छूटे तथा दु:
से छुटकारा कैसे मिले इन प्रश्नों का उत्तर जैसे अन्य दर्शनों में मिलता है, वैसे
साहित्य में भी मिलता है अत: इसे दर्शन कह सकते हैं। व्यवहार में दर्शनों की आच
संहिता परिगणित लोगों के लिए ही हो पाती है पर साहित्य की आचार संहि
सभी के लिए है अत: यह सर्वमान्य दर्शन है। ईश्वर के विषय में विसम्वाद हो सक
है पर आबाल अनुभूत प्रेम के विषय में कोई विसम्वाद नहीं हो सकता है। इसी
भरत का कहना है कि—

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत ।।
एतदरसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद भविष्यति ।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।। (ना० शा० १।११३-११६)

## साहित्यपर्याय काव्य शब्द का प्रयोग—

साहित्यपर्याय काव्य शब्द अत्यन्त प्राचीन है। यह सृष्टि ही काव्य है क्योंकि इसका रचयिता कवि ही है। अथर्ववेद कहता है—**'पश्यदेवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'** (अथ० १०. ८. ३२.)। जगदरूप काव्य के कर्ता से बढ कर कौन कवि हो सकता है?

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः
(ईशा० ८)

श्रुति के द्वारा सृष्टि रचयिता को कवि कहने की भावना का आदर करते हुये एक विद्वान् ने लिखा है कि इससे सिद्ध है कि दार्शनिक की अपेक्षा कवि शब्द तथा दर्शन की अपेक्षा काव्य कहना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि

स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा ततः सा कविता परा नः ।।

इसीलिए इसी आधार पर यह कहा जाता है कि—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

सृष्टिरूप काव्य के बाद दूसरा काव्यावतार वेदरूप में हुआ। अतीन्द्रिय अर्थों के प्रतिपादक वेद के मन्त्ररूप काव्यों को सहृदय जनों ने इतना आदर दिया कि उन मन्त्रों के उदघोषक की कविवाणी को आजतक विस्मृत न होने का उपाय भी निकाल डाला। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को कवि कहते हैं—

'ऋषिं विश्वेश्वरं कविम्' —(महाभारत)।

काव्य का तीसरा अवतार बाल्मीकि रामायण है। यद्यपि क्रम में यह तीसरा है तथापि दर्शन के रूप में यह साहित्य का प्रथम प्रतिष्ठापक भी है। जिसका दर्शन उदार होता है उसे ही उदार दर्शन कहते हैं। वाल्मीकि उदार दर्शन थे। इसीलिए उनका वह काव्य दर्शन का प्रतिष्ठापक है। अपने पद्यवद्ध प्रयोग से विस्मयचकित बाल्मीकि को अपनी रचना के नामकरण के लिए कोई आयास नहीं करना पड़ा।

उसका नामकरण स्वयं ब्रह्मा ने किया– 'न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति
फिर तो वाल्मीकि ने निश्चय ही कर लिया–'कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करव
यहम्'। इसका परिणाम हुआ एक नये दर्शन का जन्म जो काव्यरूप मे अवतरि
हुआ।

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमैस्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान्।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः॥
तदुपगतसमाससन्धियोगं सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम्॥
(वा० रा० १. २. ४२-४

इस दर्शन की विशेष चर्चा आगे होगी पर यहाँ इतना ही जानना पर्याप्त है
यह काव्य रूप साहित्य दर्शन केवल सभामात्र के लिए नहीं है अपितु, प्रति
व्यवहरणीय है तथा इसका अर्थतत्त्व अनन्त है। इसीलिए व्यास ने लिखा—

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥
(श्रीमद्भा० १. ५. १

## साहित्य का प्रयोजन—

वाल्मीकि के प्रसङ्ग में यह देखा जा चुका है कि अन्तःकरण की करुणा का
परिणाम साहित्य है। विकसित सृष्टि में परस्पर में सभी का सबसे कहीं न कहीं
सम्बन्ध बनता है। सम्बन्ध सदा कम से कम दो में बनता है। एक में कोई सम
नहीं रहता है। एक में उसकी अपनी विशेषता अन्तर्निहित होती है। पर कदा
सृष्टि ही ऐसी है कि कि कोई भी–एकाकी न रमते। आत्यत्तिक दुःख की निवृत्ति
लिए इस एकाकी बनने की प्रक्रिया को प्राय. सभी दर्शन प्रश्रय देते हैं। नहीं प्र
देने वाला दर्शन लोकायत है जो सम्भवतः स्वरूपविकृति के कारण किसी का
सहायक नहीं बन पाता है। क्योंकि व्यक्ति का सुख दुःख कदाचित् सम्पूर्ण समाज
सुख दुःख नहीं बन पाता है। ऐसी स्थिति में इस दुर्लङ्घ्य संसार के व्यवहार
अर्णव का सन्तरण साहित्य की नौका से ही होता है। साहित्य ही ऐसा कह स
है कि—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

'किसी का सुख दुःख मेरा भी सुख दुःख बन जाय' ऐसी भावना केवल सा
से सम्भव है। यदि सम्पूर्ण मानवसृष्टि अहिंसक हो जाय तो भी मानवेतर अन्य प्रा

जगत् से हिंसा नहीं जा सकती है। क्योंकि यह उसका स्वभाव है। पर कदाचित् पक्षी का क्रन्दन मेरा अपना क्रन्दन हो जाय तो मुझे आटा चावल का भाव ज्ञात हो जायेगा। यही कारण है कि जिन दिनों अगस्त्य, विश्वामित्र तथा वशिष्ठ जैसे इने गिने ब्राह्मणों को छोड़कर शेष सभी विप्र परलोक के सुख की चिन्ता में व्यस्त थे, राजन्यवर्ग में व्यक्तिगत सुख के लिए ३-३ विवाह विहित हो चुके थे, परस्त्री का सम्पर्क उत्कर्ष का द्योतक था, अनुजवधू को स्ववधू बनाने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई देती थी, साथ ही समाज का शेष वर्ग भी स्वकर्म पालन में च्युत था उन दिनों वाल्मीकि का हृदय पक्षीक्रन्दन से क्रन्दित हो उठा था। साहित्य दर्शन के इस उद्घोषक ने यदि अपने योग्य पात्र को चुना तो ऐसे व्यक्ति को चुना जो गृध्र बन्दर तथा ऋक्षों का सहायक था। परिस्थिति बताती है कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु की अनुभूति को जागृत करना साहित्य का प्रथम प्रयोजन है।

व्यवहार का एक मान्य नियम है कि 'एक: स्वादु न भुञ्जीत' अर्थात् सुस्वादु पदार्थ का सेवन अकेले नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि समाज का सभी वर्ग व्यक्तिगत योग्यता में न्यूनाधिक्य रहने पर भी यदि समान रूप से उत्कर्ष में साझीदार नहीं होगा तो समाज विखण्डित हो जायेगा। इसी प्रकार दर्शन की मान्यतायें यदि अपने ढेढ़ेपन के कारण सबके लिए समान उपकारी नहीं होंगी तो उनका अस्तित्व गिने चुने लोगों के लिए गिने चुने दिनों के लिए ही होगा। यहाँ साहित्य समभाव से सबका उपकारी होता है। यह इसके प्रयोजन में निहित है कि यह अपना स्वरूप सद्य: सबके सामने इस ढंग से उपस्थित करता है, जिससे लोग इसकी ओर आकृष्ट हों तथा अपना उपकार इसके द्वारा सम्पादित करा लें। यहीं कारण है कि बाल्मीकि ने ज्योंही इस दर्शन को व्यवस्थित रूप दिया, इसका प्रचार भी तुरत होने लगा। परिणाम यह हुआ कि साहित्य न केवल मोक्षशास्त्र बना, अपितु,

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

रूप इसका द्वितीय प्रयोजन उद्घोषित हो गया।

सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ अविद्या को मानने वाले अन्य दर्शन अविद्या को विनष्ट करने के लिए जिन उपायों को बताते हैं, वे कड़वी औषधि के समान हैं, जबकि साहित्य प्रदत्त औषधि आह्लादित करने वाली मीठी औषधि के समान है अर्थात् अमृतवत् है।

कटुकौषधिवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम्॥ (व्य० वि० १.७)

नियतिनियन्त्रित विधाता का समानधर्मा पर काव्यसंसार का स्वतन्त्र प्रजाप
कवि तो साहित्य के अनेक प्रयोजनों में अपने लिए 'यश' की प्राप्ति ही मुख्य प्रयो
मानता है। क्योंकि वह जानता है कि अनेक जन्मार्जित पुण्यों से ही मानवजीवन
प्राप्ति होती है तथा उसमें काव्यसर्जक होने पर उसे कदाचित् जिस यशोरूपी पु
की प्राप्ति होगी, उससे निर्मित अदृष्ट उसे क्या कुछ नहीं दे सकेगा। नैसर्गिक सत्त्व
सम्पन्न ऐसा कवि विनम्रतापूर्वक कहता है---

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुदवाहुरिव वामनः।

अथवा

कवि न होउं नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप रामगुन गावौं ।।
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा ।।

अशिव की निवृत्ति तथा व्यवहारज्ञान साहित्य से ही सम्भव है। अर्थ की प्रा
भी साहित्य से होती है पर यह प्रयोजन तो 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' है। साहित्य
प्राप्त ज्ञान सहज में अङ्गीकृत हो जाता है। क्योंकि यह उसे ऐसे कहता है मा
कान्ता कह रही हो तथा जिसका प्रतिवाद करना आत्मघात के समान है।

दर्शन की भाषा में साहित्य का सकलप्रयोजन मौलिभूतप्रयोजन ब्रह्मास्वादसहो
आस्वाद की प्राप्ति करना माना गया है। यहां कोई भी व्यक्ति यह विप्रतिपत्ति उ
सकता है कि यदि कोई दर्शन ब्रह्मास्वाद का अनुभव करा रहा हो तो उससे न्यून उस
सहोदर जैसा आनन्द प्राप्त करना क्या अर्थ रखता है ? ऐसे व्यक्ति से क्या कहा जा
पहली बात तो यह है कि सहभाव का समर्थक साहित्य सहोदर की कल्पना को स्व
अधिक स्थान देता है। दूसरी बात यह है कि आनन्द यदि वर्ण्य हो जाय तो
आनन्द ही नहीं रह जाता है। वहां तो वेद्य का विगलन हो जाता है। अवान्तरकाल
इतना ही स्मरण रह जाता है कि था कुछ, जो रसास्वादसमुद्भूत था। कार्यकारणभ
की व्याख्या करने वालों के लिए सम्भवतः इस श्लोक की व्याख्या कठिन होगी---

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥

## साहित्य दर्शन के अधिकारी—

जिसका हृदय मानवता की रक्षा की भावना से युक्त हो, इन्द्रियनिग्रह में स्वाभ
विक रीति से जो समर्थ हो, प्रकृति के प्रत्येक कण में जिसे चेतनता की प्रतीति होत

हो जिसमें पूज्य के निरादर की भावना का उदय कभी न होता हो, मनोगत विकारों के प्रत्यवेक्षण में जिसकी रुचि हो, स्वभाव से जो मृदुभाषी हो, जिसमें परदु:खकातरता हो, जगन्नियन्ता के प्रति जिसके मन में अविश्वास न हो तथा किसी भी धर्म के मूल-सिद्धान्तों के प्रति जिसमें कटुता न हो वही साहित्य दर्शन का अधिकारी है।

जिसने भाषा की प्रकृति का अनुशीलन कर लिया हो, जो विभिन्न शास्त्रों को जानने का अभिलाष रखता हो तथा जो साहित्यविद् के सम्पर्क में प्रसन्नता का अनुभव करता हो वही साहित्य दर्शन का अधिकारी है।

ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को सद्य: विसकलित करने का जिसमें सामर्थ्य हो अथवा एवंज्ञानसम्पन्न की धारणाओं के आलोचन में जो समर्थ हो वही साहित्य दर्शन का वास्तविक अधिकारी है।

—:०:—

## षष्ठ अध्याय

## साहित्य दर्शन की परिकल्पना

सृष्टि के मूल में कोई एक तत्त्व अवश्य है। 'है' एतावता वह सत् है। **'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'** ( तै० उ० )। पर पहले वह अव्याकृत था। अव्याकृत ब्रह्म को असत् भी कहा जाता है। उसने स्वयम् अपने को सत अर्थात् व्याकृत किया। असत् का तात्पर्य अव्याकृत तथा सत् का तात्पर्य व्याकृत से है। यह व्याकृति नाम-रूपात्मक हुई। अत्यन्त सुश्लिष्ट रीति से होने के कारण इस नामरूपात्मक व्याकृति को 'सुकृत' कहा जाता है। इस सुकृत के दो भाग होते हैं- (१) नाम, (२) रूप। नाम से किसी न किसी रूप का ग्रहण होता है। रूप को अर्थ भी कहते हैं। रूप का ज्ञान नाम से होता है। इस नाम को पद भी कहते हैं। पद का अर्थ होता है और अर्थ का ज्ञान पद से होता है। अत: नामरूपात्मक–पदार्थमात्र–जो कुछ है, वह अव्याकृत ब्रह्म का विपरिणमित रूप है। अव्याकृत ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं बनता है। सुकृत ही ज्ञान का विषय बनता है। यही आस्वाद्य है। रस्यते–आस्वाद्यते य: स: रस: इस व्युत्पत्ति से जिसका आस्वाद हो सके वह रस कहलाता है। यह सुकृत ही रस कहलाता है। इसमें रसत्व का प्रादुर्भाव कारणरूप अव्याकृत ब्रह्म से ही आता है। अत: उस परब्रह्म को भी रस कहते हैं। श्रुति कहती है कि—

असद् वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं
स्वयमकुरुत । तस्मात्तत् सुकृतमुच्यत इति । यद् वै तत्सुकृतं
रसो वै सः । रसं ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति (तै०उ० २/७/१) ।

इस रस को पाकर ही पुरुष आनन्दी होता है । आनन्द को पाकर ही कोई आनन्दी हो सकता है । इसका तात्पर्य है कि रस आनन्दरूप है । आनन्द जडता का विषय नहीं होता है अपितु स्वयं चैतन्य तथा चैतन्य का धर्म भी है । अस्तित्वविहीन में चेतनता की परिकल्पना नहीं हो सकती है । फलत: ब्रह्म को सत् चित् तथा आनन्द कहा जाता है । इससे सिद्ध होता है कि सच्चिदानन्द का दूसरा पर्याय 'रस' है । इसीलिए साहित्य दर्शन में रस की अनुभूति को ब्रह्मास्वादसहोदर कहा जाता है । कारण स्पष्ट है । अव्याकृत का अनुभव कदापि नहीं हो सकता है । प्रकारान्तर से जो रसानुभव होता है वह ब्रह्मानुभव ही है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सृष्टि की प्रथमोद्भावना दो रूप में हुई–१. नाम, २. रूप । नाम की प्राचीन संज्ञा वाक् है तथा रूप की प्राचीन सज्ञा अर्थ है । आगे चलकर नाम के लिए 'शब्द' शब्द का भी व्यवहार होने लगा । फलत: वागर्थ तथा शब्दार्थ शब्द व्यवहृत होने लगा तथा सृष्टि की विवेचना दोनों रूपों में होने लगी । १. शाब्दी सृष्टि तथा २. आर्थी सृष्टि । शाब्दी सृष्टि की प्रक्रिया आगम ग्रन्थों में विस्पष्ट की गई तथा आर्थी सृष्टि का विचार अनेक दर्शनों में किया गया । साहित्य दर्शन ने शब्दार्थसृष्टि को अपने विचार का विषय बनाया ।

शाब्दी सृष्टि का सर्वाधिक विचार व्याकरणदर्शन अथवा व्याकरणागम में किया गया है । चूंकि अर्थ का परिज्ञान नाम से होता है अत: साहित्य दर्शन में शाब्दी सृष्टि की पूरी प्रक्रिया अपनायी गई । भौतिक दृष्टि से आर्थी सृष्टि का विचार अनेक लोग कर रहे थे अत: साहित्य दर्शन ने शब्दार्थसम्बन्ध विचार को अपने क्षेत्र के लिए विशेषत: सुरक्षित किया तथा यह देखना प्रारम्भ किया कि नाम के द्वारा उपस्थापित अर्थों का नाम से कितना और कैसा सम्बन्ध है । इस प्रकार व्याकरण तथा साहित्य दोनों दर्शन परस्पर में नितान्त अनुषक्त हो गये । चूंकि कालक्रम से नामदर्शन पहले व्याख्यात हुआ तथा साहित्य दर्शन बाद में इसलिए साहित्य को व्याकरणस्य पुच्छम–व्याकरण की प्रतिष्ठा–कहना भी प्रारम्भ हो गया तथा मान्य विचारक निर्भ्रान्त कहने लगे कि–'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा:' 'बुधैर्वैयाकरणै:' आदि । नामदर्शन का अभ्यास कुछ कठिन होता है यद्यपि उसके विषय में कहा जाता है कि–

तद द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ।। (वा० प० १।१४)

साहित्यदर्शन अपेक्षाकृत आवर्जक होता है । साथ ही उसके लिए यह सिद्धान्त भी निर्भ्रान्त है कि– **'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि'** । इससे यह सिद्ध है कि समस्त अर्थजात साहित्य का क्षेत्र है । जहां वह जडवादी विचार का परित्याग करके उन अर्थों के प्रति अपनी संवेदनशीलता का विभिन्न रूपों में आकलन करता है तथा यह भी देखता है कि उन आकलनों को कैसे शब्दों के द्वारा उपस्थापित किया जाय, जिससे वे रसानुभूति में सहायक हो सकें ।

यद्यपि साहित्यदर्शन के आद्य प्रतिष्ठापक वाल्मीकि से पहले ही इस दर्शन का बीज पड़ चुका था और उशना को कवि की मान्यता प्राप्त थी पर उनके कार्यों का स्वरूप सम्प्रति स्पष्ट नहीं है । उशना से भी पूर्व ब्रह्मा ने पुत्रीयन्ती सरस्वती को यह वरदान दिया था कि तुम्हें पुत्र प्राप्त हो । सरस्वती के पुत्र को काव्यपुरुष कहा जाता है, जिसने उत्पन्न होते ही कहा था–

> यदेतद् वाङ्मयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्तते ।
> सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ ॥ (उद्धृत–का० मी०)

ब्रह्मा ने काव्यपुरुष को लोकहित की दृष्टि से काव्यविद्या के प्रवर्तन का आदेश दिया, जिसने इस काव्यविद्या को १८ अधिकरणों में बांट कर एक एक अधिकरण का उपदेश एक एक स्नातक को दिया, जो उस उस भाग के आचार्य कहलाये । जैसे–

१– सहस्राक्ष को कवि रहस्य
२– उक्तिगर्भ को औक्तिक
३– सुवर्णनाभ को रीति
४– प्रचेता को आनुप्रासिक
५– यम को यमक
६– चित्राङ्गद को चित्र
७– शेष को श्लेष
८– पुलस्त्य को वास्तव
९– औपकायन को औपम्य
१०– पाराशर को अतिशय
११– उतथ्य को अर्थश्लेष
१२– कुबेर को उभयालङ्कारिक
१३– कामदेव को वैनोदिक
१४– भरत को रूपक
१५– नन्दिकेश्वर को रसाधिकारिक

१६– धिषण को दोषाधिकरण
१७– उपमन्यु को गुणौपादानिक
१८– कुचुमार को औपनिषदिक

किसी वस्तु के विशेष ज्ञान के लिए सिद्धान्त और उसके प्रयोग को स्वतन्त्र रहने देना चाहिये तथा दोनों प्रकार के अनुशीलनों के परिणाम को समन्वित दृष्टि से देखना चाहिये। ऐसी मान्यता के आधार पर सिद्धान्त की दृष्टि से इन १८ अधिकरणों का कार्यक्षेत्र बंटा पर प्रयोग की दृष्टि को जिन्होने विकसित किया वे ही वस्तुतः कवि पद के भागी हुये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथमतः साहित्य दर्शन की प्रायोगिक आचार्य परम्परा में काव्यपुरुष तथा उशना के बाद वाल्मीकि आते हैं पर कार्यरूप में वे ही इस दर्शन आद्य प्रतिष्ठापक हैं। इनके विषय में कहा जाता है कि सरस्वती का उनको यह आशीर्वाद प्राप्त था कि "कोई भी व्यक्ति जो केवल 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्' रूप एक श्लोक का ही मनन करेगा वह सारस्वत कवि हो जायेगा" (यदुतान्यदनधीयानो यः प्रथममेनमध्येष्यते सः सारस्वतः कविः सम्पत्स्यते–का० मी०)

वाल्मीकि के बाद के कवियों का नाम सम्प्रति ज्ञात नहीं है पर उस परम्परा में आगे चलकर व्यास का दर्शन होता है। व्यास का कृतित्व अत्यन्त विस्तृत है। व्यास के बाद भास के पहले के लोगों के विषय में सम्प्रति कोई सामग्री अब नहीं मिलती है। सिद्धान्तग्रन्थों में केवल भरत का नाट्यशास्त्र मिलता है जो आद्य भरत की कृति का नूतन संस्करण है। कालिदास के द्वारा स्मृत सौमिल्ल कविपुत्र आदि के विषय में भी सामग्री समाप्त है। वर्तमान काल में जिन लोगों की कृतियां अवशिष्ट हैं। उनकी संक्षिप्त सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक नामावली निम्नलिखित प्रकार से बनती है :—

## सैद्धान्तिक ग्रन्थ और उनके आचार्य

| ग्रन्थ | आचार्य | ग्रन्थ | आचार्य |
|---|---|---|---|
| १– नाट्यशास्त्र | भरत | ९– अभिधावृत्तिमातृका | मुकुल भट्ट |
| २– काव्यालङ्कार | भामह | १०– काव्यालङ्कार-वक्रोक्तिजीवित | कुन्तक |
| ३– काव्यादर्श | दण्डी | | |
| ४– काव्यालङ्कार सूत्र | वामन | ११– व्यक्तिविवेक | महिम भट्ट |
| ५– काव्यालङ्कार सार संग्रह | उद्भट | १२– दशरूपक | धनञ्जय |
| ६– काव्यालङ्कार | रुद्रट | १३– शृंगार प्रकाश, सरस्वती कण्ठाभरण | भोजराज |
| ७– ध्वन्यालोक | आनन्दवर्धन | | |
| ८– लोचन, अभिनव भारती | अभिनव गुप्त | १४– काव्यप्रकाश | मम्मट |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १५– औचित्यविचारचर्चा | क्षेमेन्द्र | २३– नाट्य दर्पण | रामचन्द्र गुणचन्द्र |
| १६– अलङ्कारसर्वस्व | रुय्यक | २४– चन्द्रालोक | जयदेव |
| १७– काव्यानुशासन | हेमचन्द्र | | |
| १८– साहित्यदर्पण | विश्वनाथ | २५– एकावली | विद्याधर |
| १९– भावप्रकाशन | शारदातनय | | |
| २०– रसगङ्गाधर | जगन्नाथ | २६– प्रतापरुद्रयशोभूषण | विद्यानाथ |
| २१– कुवलयानन्द | अप्पय दीक्षित | | |
| २२– वाग्भटालङ्कार | वाग्भट्ट | २७– अलङ्कार कौस्तुभ | कर्णपूर |

## कुछ प्रायोगिक ग्रन्थ और उनके कर्त्ता

| | | | |
|---|---|---|---|
| १– स्वप्नवासवदत्तादि | भास | २२– गीतगोविन्द | जयदेव |
| २– रघुवंश अभिज्ञान शाकुन्तलादि | कालिदास | २३– सूर्यशतक | मयूर भट्ट |
| ३– बुद्धचरितादि | अश्वघोष | २४– शङ्कराचार्य | सौन्दर्यलहरी |
| ४– चतु:शतकादि | मातृचेट | २५– आमिनीविलास आदि | जगन्नाथ |
| ५– जातकमालादि | आर्यशूर | २६– स्तोत्रकुसुमाञ्जलि | जगद्धर भट्ट |
| ६– किरातार्जुनीय | भारवि | २७– वासवदत्ता | सुबन्धु |
| ७– रावणवध | भट्टि | २८– कादम्बरी आदि | बाणभट्ट |
| ८– जानकीहरण | कुमारदास | २९– दशकुमार चरित | दण्डी |
| ९– शिशुपालवध | माघ | ३०– नलचम्पू | त्रिविक्रम |
| १०– सेतुबन्ध | प्रवरसेन | ३१– पञ्चतन्त्र | विष्णु शर्मा |
| ११– रामचरित | अभिनन्दि | ३२– मुद्राराक्षस | विशाखदत्त |
| १२– हरविजय | रत्नाकर | ३३– मृच्छकटिक | शूद्रक |
| १३– रामायणमञ्जरी आदि | क्षेमेन्द्र | ३४– रत्नावली आदि | हर्षवर्द्धन |
| १४– नैषधीयचरित | श्रीहर्ष | ३५– वेणीसंहार | भट्ट नारायण |
| १५– चन्द्रप्रभचरित | वीरनन्दी | ३६– उत्तररामचरितादि | भवभूति |
| १६– नवसाहसाङ्कचरित | पद्मगुप्त | ३७– अनर्घराघव | मुरारि |
| १७– विक्रमाङ्कदेवचरित | विल्हण | ३८– कर्पूरमञ्जरी | राजशेखर |
| १८– राजतरङ्गिणी | कल्हण | ३९– प्रसन्नराघव | जयदेव |
| १९– हंसदूत | रूपगोस्वामी | ४०– मत्तविलास | महेन्द्र विक्रम |
| २०– अमरुकशतक | अमरुक | ४१– प्रबोधचन्द्रोदय | कृष्ण मिश्र |
| २१– आर्यासप्तशती | गोवर्द्धनाचार्य | | |

यहां यह ध्यान देने की बात है कि प्राचीनकाल में लक्ष्य और लक्षण निरूपण एक ही व्यक्ति एक स्थान पर नहीं करता था पर अर्वाक काल में दोनों उत्तरदायित्व एक ही व्यक्ति ने सम्हालना प्रारम्भ कर दिया, जिसकी चरम परिणति पण्डितराज जगन्नाथ में हुई। उन्होंने लिखा–

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र लिखितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥

—:०:—

## सप्तम अध्याय

## शब्द विचार

साहित्य दर्शन का क्षेत्र मुख्यतः शब्दार्थसम्बन्ध का विचार करना है, यह पहले कहा जा चुका है। 'शब्द किसे कहते हैं' इस विषय में साहित्यिक मान्यता इस प्रकार है।

जिससे अर्थ का बोध होता है, उसे शब्द कहते हैं। इस प्रसङ्ग में किसी भी रूप या अर्थ को बताने के लिए जिसका उच्चारण किया जाता है, वही शब्द है। अर्थबोध की इच्छा से प्रयोक्ता पहले शब्द को कहता है, अनन्तर अर्थ का बोध होता है। शब्द के द्वारा ही मानव पहले कल्पना करता है पुनः अर्थ की विवृति होती है। इसीलिए श्रुति कहती है कि आदि पुरुष ने पहले 'भू' शब्द का उच्चारण किया पुनः भू को बनाया–'स भूरिति व्याहरत् पुनः भुवमसृजत्'। 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपो अतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच' (तै० उ० २।६।१) ऐसी अनुश्रुति है कि सर्वप्रथम ॐ शब्द उच्चरित हुआ। अनन्तर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ। इसीलिए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वाचक शब्द ओम् है। इसके बाद क्रमशः भूः भुवः स्वः शब्द उच्चरित हुआ। फिर क्रमशः ब्रह्माण्ड में भूर्लोक, भुवोलोक तथा स्वर्लोक की निर्मिति हुई। उच्चारण अर्थात् व्याहरण के कारण ही इन्हें व्याहृति कहते है। ब्रह्माण्ड के एक एक भाग का बोधक होने के कारण इन्हें महाव्याहृति भी कहते हैं। इनके बाद महः जनः तपः तथा सत्यम् उच्चारित हुआ। अतः ये सप्त व्याहृतियां प्रसिद्ध हैं। शब्दोच्चारणपूर्वक अर्थोत्पत्ति होने से ही इस जगत् को नामरूपात्मक कहते है। शब्द विवृति का यह एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष वह है, जिसकी ओर इङ्गित करती हुई श्रुति कहती है—
चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽ अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश (ऋ. सं. ४/५८/३)

अर्थात् इसके चार सींग तथा तीन पैर हैं। इसके दो शिर तथा सात हाथ हैं। तीन प्रकार से बंधा वृषभ शब्द करता है। यह महान देव मरणशीलों में प्रविष्ट हो गया। इस मन्त्र की विशेषता बताते हुये महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है कि- चार सींग का अर्थ है शब्द के चार भेद- (१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग तथा (४) निपात। तीन पैर से भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल का बोध होता है। दो शिर का तात्पर्य शब्द की दो आत्मा अर्थात् अवस्थायें हैं- (१) नित्य, (२) कार्य। सात हाथ का तात्पर्य सात विभक्तियों से है-(१) प्रथमा, (२) द्वितीया, (३) तृतीया, (४) चतुर्थी, (५) पञ्चमी, (६) षष्ठी तथा (७) सप्तमी। तीन प्रकार से बंधने का भाव उच्चारण के तीन प्रमुख स्थान हैं- (१) उरः, (२) कण्ठ तथा (३) शिरः। कामप्रदाता होने के कारण यह वृषभ है तथा उत्कृष्टों में उत्कृष्ट है, अतः महादेव है। 'मनुष्यों में प्रविष्ट हो गया' का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार से व्याकृत शब्द का प्रादुर्भाव मानवों में ही होता है अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययादिज्ञानपुरःसर शब्द का उच्चारण मानव ही करते हैं।

इसी भाव को एक दूसरे मन्त्र में इस प्रकार कहा गया है-
चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति (ऋ.सं.१/१६४/४५)

अर्थात् वाक् के चार ही पद हैं। उन्हें मनीषी ब्राह्मण जानते हैं। इनमें गुहा में पड़े तीन प्रकाशित नहीं होते हैं। मनुष्य वाक् के चतुर्थ भाग को बोलते हैं। यह पहले लिखा जा चुका है कि साहित्य किसी का पिछलग्गू नहीं है। इस मन्त्र की हृदयग्राहिणी व्याख्या निगम परम्परा के अतिरिक्त आगम परम्परा के अनुसार होती है। आप्तशब्द को प्रमाण मानने वाला साहित्य निगम तथा आगम दोनों को बराबर मान्यता देता है—नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्। अस्तु, इस मन्त्र में वाक् के चार पद से शब्द की चार अवस्थायें गृहीत होती हैं- (१) परा, (२) पश्यन्ती, (३) मध्यमा तथा (४) वैखरी। इन्हें ब्रह्मविद्-शब्दार्थसम्बन्ध-के ज्ञाता-ही जानते हैं। इनमें भी तीन परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा छिपी हैं तथा चौथी वैखरी वाक् ही मनुष्यों के द्वारा व्यवहार में प्रयुक्त होती है।

शब्द निरूपण के इस प्रसंग में शब्दोत्पत्ति के विषय में भी जानना आवश्यक है। शब्द ४ प्रकार का होता है (१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा (४) वैखरी

प्रलयकाल में माया ईश्वर में लीन हो जाती है। पुन: ईश्वर की सृष्टि करने की इच्छा के समय माया और पुरुष उत्पन्न होते हैं। अनन्तर ईश्वर की सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति उत्पन्न होती है। मायावृत्ति से सत्त्व, रज, तम रूप त्रिगुणात्मक अव्यक्त विन्दु उत्पन्न होता है। इसी को शक्तितत्त्व कहते हैं। इस विन्दु में तीन अंश होते हैं। (१) चित् (२) अचित् (३) चिदचित्। चित् अंश को विन्दु (ब्रह्मरूप), अचित को अविद्या तथा चिदचित् अंश को नाद कहते हैं। उपरिलिखित त्रिगुणात्मक अव्यक्त विन्दु से चेतनमिश्र केवल नाद उत्पन्न होता है, जो वर्ण पद से रहित, ज्ञान प्रधान तथा सृष्टि के उपयोगी अवस्था वाला होता है। उसे शब्द ब्रह्म कहते हैं।

विन्दोस्तस्माद भिद्यमानाद् रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्
स एव श्रुतिसम्पन्नै: शब्दब्रह्मे ति गीयते (प्रपञ्चसार तं० १/४३)

यह नाद ही रव अथवा परा शब्द से व्यवहृत होता है। जब प्राणियों के मूला-धार में संस्कृत पवन का चलन होता है तब वह अभिव्यक्त होता है। संस्कृत पवन चलन का तात्पर्य 'ज्ञातार्थ को कहने की पुरुषेच्छा से उत्पन्न प्रयत्न के साथ मूला-धारस्थ पवन का योग' है। निराधार स्वाधार अभिव्यक्त वह शब्दब्रह्म ही स्पन्दहीन 'परावाक्' कहलाता है। आदिअन्तहीन अक्षररूप यह शब्दब्रह्म ही अर्थभाव से विवर्तित–परिणमित–होता है और उससे जागतिक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

अनादिनिधनंब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:॥ (वा० प० १।१)

पराख्य शब्दब्रह्म ही नाभिस्थ वायु के द्वारा अभिव्यक्त होकर पश्यन्ती कहलाता है और यह मन का विषय बनता है। इसमें स्पन्द सामान्य रहता है। परारूप शब्द-ब्रह्म तथा पश्यन्ती रूप शब्दब्रह्म क्रमश: सूक्ष्मतम और सूक्ष्मतर हैं एवम् समाधि में योगियों के लिए निर्विकल्पक तथा सविकल्पक को ज्ञान के विषय हैं। इन दोनों के अधिष्ठात्री देवता ईश्वर ही हैं।

पश्यन्तीरूप शब्दब्रह्म ही हृदय में हृदयपर्यन्त आये वायु से अभिव्यक्त होकर मध्यमा वाक् कहलाता है। यह निश्चयात्मिका बुद्धि अर्थात् अन्त:करण का विषय बनता है। इस बुद्धि में ही अर्थविशेष और शब्दविशेष का उल्लेख होता है। इसमें स्पन्दविशेष रहता है। इसकी अधिष्ठात्री देवता हिरण्यगर्भ है। इस वाक् का परश्रोत्र से ग्रहण नहीं होता है। यदि अपना कर्ण बन्द कर दें तो सूक्ष्मतर वायु के अभिघात से और उपांशु शब्द के प्रयोग में यह वाक् सुनाई पड़ती है। इसीलिए इसे सूक्ष्मा वाक् भी कहते हैं। शब्द की ये तीन अवस्थायें ओङ्कार के सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मरूप हैं।

मध्यमारूप शब्दब्रह्म ही आस्यपर्यन्त आये वायु के द्वारा कण्ठ देश में जाकर मूर्द्धा को ताडित कर पुनः कण्ठ आदि स्थानों में अभिव्यक्त होकर वैखरी वाक बनता है। यह परश्रोत्रग्राह्य होता है तथा उसकी अधिष्ठात्री देवता विराट कहलाती है। व्यान तथा उदान वायु से युक्त प्रणव ही वैखरी रूप में प्रतिपन्न होता है।

इस निरूपण को दृष्टि में रख कर शब्द के दो रूप—नित्य तथा कार्य–को ध्यान में रख कर महाभाष्यकार ने शब्द की दो परिभाषायें दी हैं १– येनोच्चारितेन सस्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः–जिसके प्रकाशित होने से सास्ना लाङ्गूल ककुद खुर विषाण वाले (गोपिण्ड) का ज्ञान होता है, वह शब्द है अथवा २- प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते-लोक में पदार्थों को प्रतीत कराने वाले ध्वनि को शब्द कहा जाता है। यहाँ प्रथम लक्षण नित्यशब्द को दृष्टि में रख कर किया गया है तथा द्वितीय लक्षण कार्यशब्द को दृष्टि में रख कर किया गया है। नित्यशब्द व्यङ्ग्य होता है तथा उसका व्यञ्जक कार्यशब्द होता है। वैयाकरण नित्यशब्द के विषय में सामान्य पर कार्यशब्द के विषय में बहुशः विचार करता है। कार्यशब्द का विभाग नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात रूप में किया जाता हैं। इसी कार्यशब्द से जागतिक अर्थों का बोध होता है। **साहित्य ने इसी कार्यशब्द तथा इससे बोधित अर्थों के विषय में सम्बन्ध निरूपण पूर्वक अपने दर्शन की आधारशिला रखी है।**

## नित्यशब्द—

भर्तृहरि ने शब्द के उस रूप के विषय में जिसे नित्य कहा जाता है, विचार करते हुये लिखा है कि 'इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही। नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः, संहृतक्रमः, सर्वेषामन्तःसंनिवेशी, प्रभवो विकाराणाम्, आश्रयः कर्मणाम्, अधिष्ठानं सुखदुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः, घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः, परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः, सर्वमूर्तीनामपरिणामाप्रकृतिः, सर्वप्रबोधरूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी, प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्यां पर्जन्यवद् दवाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः, सर्वेश्वरः, सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभः, तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीन् अत्यन्तविनिर्भागेन संसृज्यन्ते' (वा० प० वृ० २०१ पृ०) अर्थात् शब्द के दो रूप होते हैं १– अविवृत्त नित्य २– विवृत्त-कार्य। लोक व्यवहार का प्रवर्तक कार्य कहलाता है जो वागात्मपुरुष के घटपटादिरूप प्रतिबिम्बों का ग्रहण करने वाला होता है। नित्य शब्द तो सम्पूर्ण व्यवहारों का कारण होता है। उसमें अविवृत होने के कारण क्रम संहृत रहता है। वह सभी प्रयोक्ताओं के अन्तः में रहता है। वह सभी कुशल अकुशल रूप कर्मों का

उत्पत्तिस्थान है। वह गमनागमनरूप कर्मो का आश्रय है । उसी के अनुग्रह अथवा उपघात से सुख तथा दु:ख उत्पन्न होते हैं। उसकी कार्यशक्ति कहीं प्रतिहत नहीं होती है। वह घटादि से ढँके प्रकाश की भाँति रहता है। उसने स्वयम् भोगक्षेत्र की सीमा को स्वीकृत कर लिया है। वह सभी मूर्तियों अर्थात् दृश्य की प्रकृति है पर उसका क्षय नहीं होता है। सर्वपदार्थज्ञ नरूपता के कारण वह नित्यानुभूत जाग्रत् एव स्वप्न ज्ञान जैसा है। उसमें प्रवृत्ति तथा निवृति दोनों रहती हैं अर्थात् जिस प्रकार मेघ के कारण वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है तथा वनाग्नि के कारण उन वनस्पतियों का नाश होता है उसी प्रकार वह प्रवृत्ति के कारण प्रसवोन्मुख तथा निवृत्ति के कारण उच्छेदोन्मुख शक्ति से युक्त होता है। वह सर्वेश्वर, सर्वशक्ति महान् शब्दवृषभ है। शब्द के ज्ञान और प्रयोग की विधि को जानने वाले व्यक्ति उस शब्दवृषभ में एकीभूत हो जाते हैं अर्थात् सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि वे अहङ्कार की ग्रन्थि को तोड़ चुके होते हैं जो उसी की विवृत्ति होती है।

यह नित्य शब्द ही जब मध्यमावस्थ रहता है तो उसे स्फोट कहते हैं, क्योंकि यहां ही उसमें अर्थ का विभाग परिदृष्ट होता है। 'यह सत्य है इसका पता परश्रोत्र-ग्राह्य वैखरी शब्द से होता है। अत: यह मध्यमावस्थ शब्द अभिव्यक्त–प्रकाशित-होता है। फलतः स्फोट व्यङ्ग्य तथा वैखरीशब्द व्यञ्जक कहा जाता है।

**कार्यशब्द –**

वैखरीशब्द की उत्पत्ति का क्रम पाणिनीय शिक्षा में निम्न प्रकार से बताया गया है—अन्त:करण के एक तत्त्व अहङ्कार के द्वारा घट पटादिरूप अर्थों को द्वितीय तत्त्व बुद्धि के द्वारा सङ्कलित कराकर उसे ज्ञात करने की इच्छा से तृतीय तत्त्व मन को निर्दिष्ट किया जाता है। मन इस कार्य में कायाग्नि को प्रेरित करता है तथा कायाग्नि प्राण वायु को प्रेरित करता है। यह वायु ही तत्तत् स्थानों में भ्रमण करता हुआ तत्तत्-प्रकारक वर्णों की उत्पत्ति का कारण बनता है।

> आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान मनो युङ्क्ते विवक्षया
> मन: कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्
> मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥ (पा० शि० ६–७)

इस परश्रोत्रग्राह्य कार्य शब्द को यद्यपि स्वरूपत: नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपात भेद से चार प्रकार से विभक्त किया गया है पर सौकर्य की दृष्टि से आचार्य पाणिनि ने नाम को सुबन्त मानकर, आख्यात को तिङन्त मानकर तथा निपात और उपसर्ग को सुबन्त के अन्तर्गत करके दो ही भेद किया है ( १ ) सुबन्त और ( २ )

तिङन्त । जिन शब्दों से सुप आदि २१ विभक्तियाँ आती हैं, वे सुबन्त तथा जिनसे तिप् आदि ९ विभक्तियाँ आती हैं, उन्हें तिङन्त माना जाता है। सुप् विभक्तियाँ जिन शब्दों से आती है उन्हें प्रातिपदिक होना तथा तिङ् विभक्तियाँ जिनसे आती है उन्हें धातु होना आवश्यक है। सभी प्रातिपदिकों से किन-किन अवस्थाओं में कौन-कौन विभक्तियाँ आयेंगी तथा सभी धातुओं से काल, पुरुष, वचन भेद से कौन-कौन सी विभक्तियाँ आयेंगी, इसका नियमन व्याकरण करता है। प्रातिपादक के लिए आवश्यक कृत तथा तद्धित प्रत्यय किन-किन अर्थों में आयेंगे तथा पदों में समास तथा सन्धि कैसे होगी एवम् स्त्रीत्व की विवक्षा में किन प्रत्ययों से रूप परिवर्तित होगा, इसका भी विचार व्याकरण करता है। **भाषा के ज्ञान में व्याकरण का ज्ञान परमावश्यक है अतः साहित्य इन नियमों के अनुसार चलने को बाध्य होता है।** यहां यह जानना चाहिये कि उपरिलिखित विभाजन भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखकर किया गया है पर अर्थबोधन की दृष्टि से यदि शब्दों का विभाग किया जाय तो दूसरे प्रकार से शब्द चार प्रकार का होगा, जिसे अर्थविचार के प्रसङ्ग में नीचे लिखा जायेगा।

—:०:—

## अष्टम अध्याय

## अर्थ विचार

'शब्द किसे कहते हैं' इस प्रश्न के उत्तर में 'शब्दोच्चारण समनन्तर उपस्थित अर्थों को शब्द न माना जाय' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है--

'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? किं यत्तत सास्नाल्लाङ्गूलककुदखुरबिषाण्यर्थरूपं स शब्दः ? नेत्याह द्रव्यं नाम तत्। यर्त्तहि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः ? नेत्याह—क्रिया नाम सा। यर्त्तहि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः ? नेत्याह—गुणो नाम सः। यर्त्तहि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः ? नेत्याह—आकृतिर्नाम सा' अर्थात् "गौ इस (विज्ञान) में कौन शब्द है ? क्या गलकम्बल पूंछ ककुद खुर तथा सींगवाला जो अर्थरूप है वह शब्द है ? नहीं, वह तो द्रव्य है। तो क्या जो उसका इङ्गित—अभिप्रायसूचक शरीरव्यापार रोमाञ्च आदि—, चेष्टित—कायपरिस्पन्द चलना आदि—, निमिषित—अक्षिव्यापार—, है वह शब्द है ? नहीं, वह तो क्रिया है। तो क्या जो शुक्ल नील कपिल कपोत—भूरा—है, वह शब्द है ? नहीं, वह गुण है। तो क्या जो भिन्नों में अभिन्न, छिन्नों में अच्छिन्न सामान्यभूत है वह शब्द

है ? नहीं, वह आकृति है"। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य, गुण, क्रिया तथा आकृति शब्द नहीं होते हैं पर वे शब्द से बोधित होते हैं। यहां आकृति पद से जाति तथा अवयव संस्थान दोनों का ग्रहण होता है। फलतः शब्द से सङ्केतित अर्थ चार प्रकार के होते हैं ? १–जाति, २–गुण, ३-क्रिया तथा ४-द्रव्य। इनमें जाति, गुण तथा क्रिया द्रव्य के आश्रित होते हैं तथा चूंकि द्रव्य का दूसरा पर्याय रूप है और उसका बोध शब्द से होता है। इसीलिए कहा गया है––

**नामरूपात्मकं जगत् अर्थात् शब्दार्थौ साहित्यम्।**

इस साहित्य में वस्तुतः विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि अर्थ की दृष्टि से शब्द चार प्रकार के होते हैं (१) जातिशब्द (२) गुणशब्द (३) क्रिया शब्द तथा (४) यदृच्छा शब्द। शब्द वृत्ति के कारण ही अर्थ का बोध कराता है। इस वृत्ति के आधार पर शब्द तीन प्रकार के होते हैं (१) वाचक शब्द (२) लाक्षणिक शब्द तथा (३) व्यञ्जक शब्द। इन विषयों का विचार अनुपद किया जायेगा।

किसी भी शब्द के उच्चारण के बाद जिस अर्थ का ज्ञान होगा वह जाति गुण क्रिया तथा द्रव्य में से कोई एक अवश्य होगा। चूंकि अवयव संस्थान द्रव्य का स्वरूप-घटक है अतः जाति पद से यहां पदार्थ के प्राणप्रद धर्म का ही ग्रहण होता है तथा धर्म रूप जाति में क्रियाकारिता न होने के कारण धर्मी का ग्रहण सुतरां निश्चित हो जाता है। इसलिये यदि जाति गुण तथा क्रिया का निरूपण हो जाय तो जातिगुण-क्रियावान द्रव्य-व्यक्ति का निरूपण स्वतः हो जायेगा। उस व्यक्ति को बताने के लिए एक संज्ञा भी आवश्यक होगी। इसलिए एक यदृच्छा शब्द को मानना होगा. जिससे उस व्यक्ति का बोध हो सके। इस आधार पर ही गौः, शुक्लः, चलः तथा डित्थः का उदाहरण देकर महाभाष्यकार ने '**चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जाति शब्दाः गुण-शब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्च**' (महा०) का सिद्धान्त निश्चित किया है। इसीलिये मम्मट ने लिखा––'सङ्केतितश्चतुर्भेदो **जात्यादिर्जातिरेव वा**' (का० प्र०)

इस निरूपण से यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्शन शब्द के विषय में व्याकरण के मत को मान्यता प्रदान करता है तथा व्याकरण के अनुसार ही अर्थ के विषय में भी अपनी स्वीकृति देता है। यहां व्याकरण यतः अर्थस्वरूप विश्लेषण का कादाचित्क स्पर्श करता है तथा साहित्य अर्थप्रवृत्ति का विश्लेषण करना अपना धर्म मानता है अतः अर्थ निरूपण के प्रसंग में अविभक्त एक शब्द के अनुसार एक अविभक्त अर्थ मानता है और वह है—उपाधि।

इसको स्पष्ट करते हुये काव्यप्रकाशकार ने लिखा–– "यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न युज्यत

इति, गौ: शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च, तदुपाधावेव सङ्केतः। उपाधिश्च द्विविधः वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये–नहि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः इति। द्वितीयो गुणः। शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति' अर्थात् यद्यपि अर्थक्रिया का निर्वाहक होने से प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहार के योग्य व्यक्ति ही होता है तथापि व्यक्ति में आनन्त्य एवम् व्यभिचार रूप दोष आने के कारण व्यक्ति में सङ्केतज्ञान उचित नहीं है। इसके साथ ही उसमें जाति, गुण, क्रिया यदृच्छारूप गौः शुक्लः चलः डित्थः आदि विषय का विभाग भी नहीं हो पायेगा। इसलिए उपाधि में ही सङ्केत का ग्रहण होता है। यह उपाधि दो प्रकार का होता है– १–वस्तुधर्म, २–वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से सन्निवेशित। वस्तुधर्म भी दो प्रकार का होता है– १–सिद्ध, २–साध्य। सिद्ध भी दो प्रकार का होता है– १–पदार्थ का प्राणप्रद, २–विशेषता के आधान कराने का हेतु। यहां पहले को जाति कहते हैं। वाक्यपदीय में कहा गया है कि स्वरूपतः गौ न गौ होती है, न अगौ। गोत्व (जाति) के सम्बन्ध से ही गौ कहलाती है। दूसरा गुण है। क्योंकि शुक्ल आदि गुणों के कारण ही सत्ताप्राप्त वस्तु भिन्न-भिन्न होती है। साध्य क्रियारूप होता है। इस क्रिया में पूर्व पर रूप अवयव मिले रहते हैं। डित्थ आदि–मोहन पप्पू आदि–शब्दों का अन्त्यबुद्धि से गृहीत होने वाला क्रमरहित स्वरूप को वक्ता की अपनी इच्छा से डित्थ आदि पदार्थों में उपाधि रूप से सन्निविष्ट किया जाता है और यह रूढ संज्ञारूप यदृच्छात्मक शब्द होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द के स्वरूप के आधार पर साहित्यदर्शन में चार प्रकार के अर्थ माने जाते हैं। अर्थ का एक अन्य प्रकार का भी विभाजन होता है जिसके अनुसार उन्हें वाच्य लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य कहते हैं। शब्द की त्रिविध अभिधा लक्षणा तथा व्यञ्जना रूप वृत्तियों के आधार पर यह विभाजन होता है। वृत्तिविचार आगे किया जायेगा। **यहां यह ध्यान देना आवश्यक है कि साहित्य प्रायः उन विश्लेषणों से अपने को बचाता है, जो अन्य शास्त्र अपना चुके हैं।** उदाहरणार्थ– वृक्ष की बनावट को वनस्पतिविज्ञानी समझें, उसके गुणधर्म का प्रयोग आयुर्वेदज्ञ करें, उपवन में उनका सन्निवेश उद्यानपण्डित करें, उनकी उपस्थिति की अनिवार्यता को पर्यावरणविशेषज्ञ समझें तथा उनसे होने वाले आर्थिक लाभ हानि को वनराजिविहर्ता समझें। साहित्य तो उनसे प्राप्त उन अनुभूतियों तक ही अपने को सीमित रखना चाहता है जहां तक वे चित्तद्रुति तथा रसानुभूति में सहायिका हो सकती हैं। फलतः साहित्य इस प्रसङ्ग में इतना ही कहता है––

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्र स्थितास्तु तरवः तरवस्त एव
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥
यूथि यथोचितविधिना विधेयमातिथ्यमेतस्मिन्
मालतिकाप्राणेशः प्राघुणिकस्ते घुणाक्षरन्यायात् ॥

—:०:—

## नवम अध्याय

## सम्बन्धविचार

शब्दार्थ के इस परस्परापेक्षित रूप को यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि इन दोनों में कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य है। क्योंकि जहां एक से दो होंगे उनमें सम्बन्ध अवश्य होगा। यह सम्बन्ध नित्य उपस्थित रहता है। इसी लिए योगिराज भर्तृहरि ने लिखा—'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः' (वा० प० १/२३)

यहां ध्यान रखना चाहिये कि अव्याकृत ब्रह्म की व्याकृतावस्था में व्यक्त शब्द तथा अर्थ की व्यावहारिक नित्यता को दृष्टि में रखकर ही सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन किया जाता है तथा सम्बन्ध का प्रारम्भ भी यहां से ही उपस्थित होता है तथा इसी सम्बन्ध के द्वारा एकीकृत सुकृत ब्रह्म ही रस कहलाता है जिसका अनुभव साहित्यविद् करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा उपस्थापित अर्थज्ञान का अनुभव अन्तःकरण के द्वारा ही होता है। व्यावहारिक दृष्टि से यह अन्तःकरण ही प्रत्यक्चैतन्यावच्छिन्न आत्मा का आश्रयस्थल है। वागिन्द्रिय से प्रसूत, श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत तथा अन्तःकरण से अनुभूत शब्दार्थ में वाच्यवाचकभावरूपा शक्ति रहती है। इसीलिए तादात्म्य रूप सम्बन्ध रहता है। तादात्म्य का दो स्वरूप माना जाता है। १— **तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्** अर्थात् यदि दो पदार्थ व्यवहार में भिन्न रहते हुये भी अभिन्न जैसा दिखाई दें तो उनमें तादात्म्य सम्बन्ध मानना चाहिये। २— **तदभिन्नत्वे सति तद्भेदेन प्रतीयमानत्वम्** अर्थात् यदि एक ही पदार्थ व्यवहार की दृष्टि से दो रूपों में भिन्न-भिन्न दिखाई पड़े तो वहां तादात्म्य मानना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदास ने इसका उदाहरण देते हुये लिखा है—

गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न
बंदौं सीतारामपद जाहि परमप्रिय खिन्न ॥

शब्द और अर्थ में प्रथम प्रकार का तादात्म्य रहता है। 'घट' यह शब्द है और 'घट' यह अर्थ है, इस प्रतीति से ज्ञात होता है कि यद्यपि घट शब्द और घट अर्थ दो वस्तु हैं पर एक ही जैसा कहे जाते है। वस्तुत: दो होने पर भी वे एक जैसे दिखाई देते हैं अत: उनमें अर्थात् शब्द और अर्थ में प्रथम प्रकार का तादात्म्य सम्बन्ध है। जल और उसका तरङ्ग वस्तुत: एक है पर उसमें भिन्नता का आरोप करके उसे दो जैसा देखना तादात्म्य के ही कारण होता है। यहाँ दूसरे प्रकार का तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। फलस्वरूप शब्दार्थ में अभेद आरोपित होता है तथा जलवीचि में भेद आरोपित होता है। इसे 'भेदसह अभेद' तथा 'अभेदसह भेद' सम्बन्ध कह सकते हैं। दोनों प्रकार के तादात्म्य का कारण 'अध्यास' होता है। अध्यास का लक्षण है– **'अन्यस्मिन् अन्यारोप:'**– जो न हो उसमें उसका आरोप। शब्दार्थ में रहने वाले इस तादात्म्य रूप सम्बन्ध के कारण ही यह पता चलता है कि शब्द में कोई न कोई ऐसा व्यापार भी अवश्य रहता है, जिसके कारण निश्चित शब्द से निश्चित अर्थ की प्राप्ति होती है। इस व्यापार को ही शब्द की शक्ति कहा जाता है, जिससे शब्दोच्चारण के अनन्तर अर्थ की उपस्थिति होती है। यह शक्ति वाच्यवाचकभावरूपा होती है। इसीलिए कहा जाता है– 'तस्य वाचक: प्रणव:'।

इस विचार से यह निष्कर्ष निकलता है कि शब्द वाचक होता है, अर्थ वाच्य होता है तथा दोनों में रहने वाली शक्ति वाच्यवाचकभावरूपा होती है। यद्यपि अर्थ का ज्ञान अनेक प्रकार से होता है इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि इङ्गित चेष्टित से भी अर्थज्ञान हो सकता है पर यह जानना चाहिये कि अन्ततोगत्वा वह ज्ञान भी शब्दमुखेन ही होता है। इङ्गित चेष्टित से प्राप्त अर्थज्ञान की शब्दपुर: सर उपस्थिति होने के बाद ही वस्तु का ज्ञान होता है। इसीलिए शब्दार्थ में वाच्यवाचकभावरूपा शक्ति व्यवस्थित बनी रहती हैं तथा इस शक्ति का ज्ञान सम्बन्ध से होता है। सम्बन्ध का वास्तविक ज्ञान साहित्य के बिना हो ही नहीं सकता है। प्रश्न पूछा जा सकता है कि जिन्होंने साहित्य का अध्ययन नहीं किया है उन्हें तो यह ज्ञान नहीं होना चाहिये पर होता है ? इसका स्पष्ट उत्तर है कि अध्ययन से तो पुस्तकीय ज्ञान ही प्राप्त होता है। शब्दार्थसम्बन्ध ज्ञान तो निसर्गत: प्राप्त है। क्या किसी ने किसी को देखना, सुनना, सूंघना, छूना, खाना तथा सोचना भी सिखाया है ? अध्ययन से तो विश्लेषण करना आता है। इस अर्थ के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है, ऐसा ज्ञान सङ्केत से होता है। इसलिये सङ्केत को भी शक्ति कह दिया जाता है। सङ्केत के अनन्तर उपस्थित शब्द से उपलब्ध अर्थज्ञान को हम शब्दशक्ति या शब्दव्यापार के कारण मानते हैं। यत: यह 'अभिधान के द्वारा अभिधेय का' होता है अत: इस शक्ति या व्यापार को अभिधा कहा जाता है। इसीलिए भर्तृहरि का कहना है—

'क्रियाव्यवेतः सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणोः ।
अभिधानियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः' ॥ (वा० प० २/४०१)

अभिधा के द्वारा अर्थबोध होने के बाद भी कभी कभी दूसरा तीसरा अर्थ-अर्थान्तर-भी होता है अतः उन अर्थों की प्राप्ति के लिए व्यापारान्तर की भी कल्पना की जाती है, जिन्हें हम लक्षणा तथा व्यञ्जना कहते हैं। फलत मुख्या अभिधा के बाद प्रतीत लक्षणा एवं व्यञ्जना को भी शब्द व्यापार के अ तर्गत मानकर इन तीनों के समुदाय का नाम 'वृत्ति' रखा जाता है। अतः यह कहना ठीक प्रतीत होता है कि शब्द में तीन प्रकार के व्यापार होते हैं। इस व्यापारसमष्टि का नाम वृत्ति है। वृत्ति के तीनों भेद क्रमशः १- अभिधा २- लक्षणा तथा ३- व्यञ्जना कहलाते हैं। यद्यपि इस वृत्ति ज्ञान से ही शब्द का अर्थ सम्भव होता है तथा शब्दार्थ के सम्बन्ध से ही वृत्तिज्ञान का पता चलता है फिर भी सुगमता को ध्यान में रखकर साहित्यविदों में इस व्यापार को ही सम्बन्ध कहने की परिपाटी विकसित हो गई है। इसके साथ ही शब्दार्थ में पाये जाने वाले अन्य तत्त्वों को भी सम्बन्ध कहना प्रचलित हो गया है। फलतः साहित्यशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध को निसर्गतः नित्य मानकर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसका विश्लेषण करके सिद्धान्त बनाया है कि—

'द्वादशधा सम्वन्धः शब्दस्यार्थस्य यः स साहित्यम् ।
त्रिस्कधः स चतुर्भिस्तनुभिः स्याच्चतुर्भिश्च' ॥ (भा. प्र. १४५।७)

वस्तुतः शब्दार्थसम्बन्धज्ञान से परिप्लुत अन्तःकरण की वृत्ति जब द्रुत होकर रस की अभिख्या धारण करती है तब अन्तःकरणावच्छिन्न चित् तत्त्व, जिसे आत्मा कहते हैं, उस विपरिणमित रस से एकाकार होकर निरतिशय स्वसंवेद्यरूप में अपने को पाता है। यह अवस्था उसके सच्चिदानन्दस्वरूप की अभिव्यक्ति करती है, जो उसका प्राप्तव्य होता है। इस स्थिति उसको लाने का श्रेय सम्बन्धानुषक्त शब्दार्थसाहित्य को ही है। इसी से विश्लिष्ट आत्मतत्त्व संश्लिष्ट होता है। फलतः इस सम्बन्ध को साहित्य कहने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती है। इसी साहित्य को लक्ष्य में रख कर कालिदास कहते हैं—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ (रघु० १/१)

यहाँ यह जानना चाहिये कि आगम वाक् को पार्वती तथा अर्थ को शङ्कर मानता है।

भोजराज के अनुसार सम्बन्ध के १२ भेदों की चर्चा करते हुये शारदातनय ने लिखा है-

वृत्तिर्विवक्षा तात्पर्यंप्रविभागाविहोदितौ ।
ततो व्यपेक्षासामर्थ्यान्वयाश्चैकार्थभावना ॥

दोषहानं गुणादानं तथालङ्कारयोगिता।
रसावियोग इत्येते सम्बन्धाः कथिता बुधैः ।। (भाव प्र० पृष्ठ १४५)

अर्थात् १– वृत्ति २– विवक्षा ३– तात्पर्य ४– प्रविभाग ५– व्यपेक्षा ६– सामर्थ्य ७– अन्वय ८– एकार्थभावना ९– दोषहान १०– गुणादान ११– अलङ्कारयोगिता तथा १२– रसावियोग नामक १२ सम्बन्ध शब्दार्थ में रहते हैं।

## १- वृत्तिविचार—

अर्थप्रतिपादन में पद के व्यापार को वृत्ति कहते हैं। यह तीन प्रकार की मानी जाती है १– अभिधा अथवा शक्ति २– लक्षणा ३– व्यञ्जना। अनेक आचार्य केवल एक ही वृत्ति मानते हैं–अभिधा। अनेक लोग अभिधा लक्षणा के साथ लक्षणा के ही भेद गौणी को स्वतन्त्रवृत्ति मानते हैं। कुछ लोग व्यञ्जना की अवहेलना करते है तथा अनेक लोग तात्पर्यावृत्ति की कल्पना करते हैं। परन्तु अभिधा के विषय में कोई विसंवाद नहीं है।

### अभिधा—

अभिपूर्वक धा धातु से ल्युट् करने पर निष्पन्न 'अभिधान' शब्द 'शब्द' को कहता है, यत् प्रत्यय से निष्पन्न अभिधेय शब्द 'अर्थ' का वाचक होता है तथा अङ् प्रत्यय से निष्पन्न अभिधा शब्द 'वृत्ति' (व्यापार) का बोधक होता है। अभिधान + अभिधेय + अभिधा ही शब्द + अर्थ + सम्बन्धगृहीत वृत्ति का निष्कृष्ट रूप है। इस अभिधावृत्ति के द्वारा ही अभिधान अभिधेय को कहने में समर्थ होता है। अभिधा का ही दूसरा नाम वाच्यवाचकभावरूपा शक्ति है। 'रामः ग्रामं गच्छति' में प्रत्येक पदों में तत्तत् अर्थों का ज्ञान अभिधाज्ञान से ही होता है। अभिधाज्ञान की सामग्री के विषय में निम्न श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ।।

### लक्षणा—

मुख्य वृत्ति अभिधा से जायमान बोध में अर्थ दृष्ट्या बाधा उपस्थित होने पर मुख्यार्थ योग पुरः सर अन्य अर्थ की प्रतीति जिस वृत्ति से होती है उसे लक्षणा वृत्ति कहते हैं। इस अर्थ की प्राप्ति में रूढि अथवा प्रयोजन का रहना अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ––'कर्मणि कुशलः अस्ति' इस वाक्य में कुशल का यौगिक अभिधेय 'कुश

को लाने वाला' होता है। पर रूढि से कुशल शब्द निपुण को बताता है। यह अर्थ रूढिवशात की जाने वाली लक्षणा से ही होता है। 'गङ्गायां घोष:' में गङ्गा के मुख्यार्थ धारा में घोष का रहना असम्भव है तथा वक्ता का प्रयोजन घोष में शैत्य पावनत्व को दिखाना होता है फलत: गङ्गा शब्द का अर्थ 'गङ्गा का तट' हो जाता है। इस अर्थ की उपलब्धि लक्षणा के द्वारा मानी जाती है। काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार यह लक्षणा ६ प्रकार की होती है।

## व्यञ्जना--

वाच्यार्थ की बाधा की अपेक्षा किये बिना ही, वाच्यार्थ से सम्बद्ध एवम् असम्बद्ध दोनों दशा में समानरूप से रहने वाली, प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दोनों प्रकार के अर्थों की बोधिका तथा वक्ता, बोद्धव्य, काकु, आदि की विशेषता के ज्ञान और प्रतिभा आदि से जागृत होने वाली वृत्ति को व्यञ्जना कहते हैं। 'गङ्गायां घोष:' इस उदाहरण में गङ्गा तट न कहकर केवल शैत्य पावनत्व की प्रतीति के लिये ही जिस लाक्षणिक गङ्गा शब्द का प्रयोग किया जाता है उस शैत्य पावनत्व रूप फल में व्यञ्जना के अतिरिक्त कोई दूसरी वृत्ति नहीं होती है। इस प्रसङ्ग में आचार्य मम्मट की निम्नलिखित कारिकायें द्रष्टव्य हैं—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते<br>
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।।<br>
नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा ।।<br>
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योग: फलेन नो<br>
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्द: स्खलद्गति: ।।<br>
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी<br>
प्रयोजनेन सहितं लक्षणीय न युज्यते ।।<br>
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य: फलमन्यदुदाहृतम्<br>
विशिष्टे लक्षणा नैव विशेषा: स्युस्तु लक्षिते ।। (का०प्र०--द्वि०उ०)

यह व्यञ्जना अभिधामूला तथा लक्षणामूला दोनों होती है। अभिधामूला का नियन्त्रण संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्यशब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर, काकु, अभिनय आदि से होता है।

## २- विवक्षा—

अर्थ को बताने के लिए वक्ता की इच्छाको विवक्षा कहते हैं। इस विवक्षा के बिना शब्द का उच्चारण ही नहीं होता है। उच्चरित शब्दों से भी वक्ता की इच्छा के

अनुसार ही अर्थ का बोध होता है। कारकों का प्रयोग इस विवक्षा के ही अधीन होता है। काकु, प्रकरण तथा अभिनय के द्वारा इस विवक्षा का पता चलता है।

## ३- तात्पर्य—

वाक्य के द्वारा वक्ता जिस अर्थ को बताना चाहता है उसमें ही उसका तात्पर्य रहता है। अतः जहां तक शब्द का अर्थ होता है. सब उसके तात्पर्य में ही समाहित हो जाते हैं। यह भिन्न बात है कि उन अर्थों की उपस्थिति अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के द्वारा अलग-अलग ढंग से हो रही है।

## ४- प्रविभाग—

व्युत्पत्ति सौकर्य के लिए पद, वाक्य अथवा प्रबन्ध में जो छेद किया जाता है, उसे ही प्रविभाग कहते हैं। पदों की संरचना, वाक्यों की संरचना तथा प्रबन्ध की संरचना के ज्ञान के बिना जिस अर्थ की उपस्थिति होती है वह परप्रत्ययनेय होती है। इसलिए प्रविभाग के द्वारा ही अर्थज्ञान करके समष्टिज्ञान के लिए विद्वत्प्रवृत्ति देखी जाती है। विविक्त करने की इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए ही श्रुति कहती है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि (ऋ.सं. १०/१७/२)

## ५- व्यपेक्षा—

दूर दूर उच्चरित शब्द भी अर्थ की दृष्टि से अपनी योग्यता के अनुसार स्वानुकूलतापूर्वक जिस धर्म के वशीभूत होकर मिलते हैं, उसे व्यपेक्षा कहते हैं। 'जाओ खाओ घर भोजन' यहां घर जाओ, भोजन खाओ रूप अर्थ व्यपेक्षा के कारण ही होता है। यह व्यपेक्षा कभी-कभी पदों का अध्याहार भी कराती है। जैसे--

मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा
वाहिनीजलभर. कुलिशं वा स्वस्ति ते ऽस्तु लतया सह वृक्ष (शृ०प्र० २८२)

## ६- सामर्थ्य—

आकांक्षा योग्यता तथा सन्निधि के कारण स्वार्थपर्यवसायी पदों का जो परस्पर में अन्वय होता है उसे सामर्थ्य कहते हैं अर्थात् व्यपेक्षावाले पद जिसके कारण अनुषक्त होते हैं, उसे ( व्यपेक्षाभिध ) सामर्थ्य कहते हैं। इसी सामर्थ्य के रहने पर व्यपेक्षा होती है। इसी कारण 'राज्ञः पुरुषोऽश्वश्च' का अर्थ 'यह राजा का पुरुष है तथा यह राजा का घोड़ा है, होता है।

### ७- अन्वय—

आकांक्षा योग्यता तथा सन्निधि के वशीभूत पदों का जो परस्पर में सम्बन्ध होता है उसे अन्वय कहते हैं। पदों में अन्वय होने के बाद ही वाक्य से विशिष्ट बोध हो पाता है।

### ८- एकार्थीभाव--

प्रक्रिया दशा में अर्थवान् रूप से गृहीत पृथक पृथक् पदों का समुदायशक्ति से विशिष्ट रूप में जिससे एकार्थप्रतिपादकता होती है उसे एकार्थीभाव कहते हैं।

### ९- दोषहान--

पद पदांश वाक्य रस आदि में जिसके कारण मुख्यार्थ में अपकर्ष हो जाता है उसे दोष कहते हैं। साहित्य में दोषों का अभाव अत्यन्त अपेक्षित है।

### १०- गुणाधान--

शब्दार्थशरीर साहित्य में आत्मवत् स्थित रस के उत्कर्षहेतु को गुण कहते हैं। इस प्रकार रसोपकारक, रस में अव्यभिचारी स्थिति वाला तथा रसोत्कर्षहेतु गुण साहित्य के लिए अत्यन्त अपेक्षित होता है।

### ११- अलङ्कारयोगिता--

अङ्गीरस के अङ्गभूत शब्द और अर्थ में उत्कर्ष लाकर जो अङ्गी का उपकार करते हैं, उसे अलङ्कार कहते हैं। साहित्य के लिए इसकी भी आवश्यकता है।

### १२- रसावियोग--

विभाव अनुभाव व्यभिचारीभावों के संयोग से निष्पन्न तत्त्वविशेष को रस कहते हैं। निर्दोष, गुणवान्, अलङ्कारयुक्त शब्दार्थशरीर के लिए रस से अवियोग अत्यन्त अपेक्षित होता है।

## अर्थबोध की प्रक्रिया—

शब्दार्थ सम्बन्ध के इस सामान्य विवेचन में यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि शब्दों से अर्थ बोध कैसे होता हैं? प्रत्येक पद दूसरे से भिन्न होता है तथा उन पदों की परिसमाप्ति एक क्रिया से होती है। ऐसी स्थिति में उन सभी से होने वाला अर्थ-बोध भिन्न-भिन्न क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर है कि 'एकतिङ्वाक्यम्' के आधार पर एकतिङ्युक्त पदों का समूह वाक्य कहलाता है। यद्यपि प्रत्येक पद का अर्थ भिन्न होता है तथापि वे आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य के द्वारा परस्पर में अन्वित होते हैं। अनन्तर अन्वित पदों से एक विशेषवपु अर्थ निकलता है जिसमें पदार्थ अन्वित तो होते हैं पर वाक्यार्थ ही मुख्य होता है। इसे अन्विताभिधान कहते हैं।

—:०:—

# दशम अध्याय

## साहित्य में सम्प्रदाय भेद

शब्दार्थ साहित्य में मौलिक भेद के लिए कोई स्थान नहीं है तथापि सुविधा की दृष्टि से वस्तु को हृदयङ्गम करने की दृष्टि एवं रुचि के आधार पर कुछ विभाग जैसी बात देखने में आती है। संस्कृत साहित्य अंग्रेजी साहित्य जैसी बात मात्र भाषा भेद के आधार पर होती है। संस्कृत साहित्य में भी वैदिक साहित्य लौकिक साहित्य जैसा विभाजन चल पड़ा है पर यह भी अनुचित है। दो सहस्र वर्ष पहले इसका उत्तर महाभाष्यकार ने दिया है। शब्दानुशासन के प्रसङ्ग में उन्होंने 'केषां शब्दानाम्' प्रश्न के उत्तर में कहा—लौकिकानां वैदिकानां च। यहां प्रश्न होता है कि वैदिक को बाद में क्यों रखा गया है? इसका समाधान है कि लोक ही प्रधान होता है, वैदिक लौकिक के ही अन्दर आते हैं। ऐसा विभाग मात्र वैदिक को आदर देने के लिए ब्राह्मणवशिष्ठन्याय से किया गया है। ऐसी स्थिति में यद्यपि विभाग की काल्पनिकता स्वत: सिद्ध है तथापि लोगों ने भेद किया है इससे उसका जानना भी आवश्यक है।

### बाह्य विभाग—

साहित्य में विभाग दो प्रकार से किया जाता है? १– बाह्य दृष्टि से तथा, २– आभ्यन्तर दृष्टि से। बाह्य दृष्टि का विभाजन साहित्य की रूपोपस्थिति से सम्बन्ध रखता है। जैसे १– दृश्य तथा २– श्रव्य साहित्य। दृश्य को रूपक भी कहते हैं। इसके नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी तथा प्रहसन भेद से १० प्रकार होते हैं। रूपक के साथ ही उपरूपक की कल्पना करके उसे १८ भागों में विभक्त किया जाता है। जैसे– १– नाटिका २– त्रोटक, ३– गोष्ठी ४–सट्टक ५– नाट्यरासक ६– प्रस्थान ७– उल्लाप्य ८–काव्य ९– प्रेङ्खण १०–रासक, ११– संलापक १२ श्री गदित १३– शिल्पक, १४– विलासिका १५– दुर्मल्लिका १६–प्रकर १७–हल्लीश तथा १८–भाणिका। श्रव्य साहित्य के ३ मुख्य भेद होते हैं १–पद्य २– गद्य तथा ३ चम्पू। पद्य के भी १– मुक्तक २– युग्मक ३– सन्दानितक ४–कलापक तथा ५–कुलक भेद पद्य संख्या के आधार पर होते हैं। गद्य का भी रूप की दृष्टि से चतुर्धा विभाग होता है १– मुक्तक २–वृत्तगन्धि ३– उत्कलिकाप्राय तथा ४–चूर्णक। वस्तु की दृष्टि से इसके कथा तथा आख्यायिका नामक भेद होते हैं। गद्य-पद्यमय काव्य को चम्पू कहते हैं। इसी प्रकार अनेक विभाग किये गये हैं तथा किये जायेंगे।

## आभ्यन्तर विभाग—

दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों प्रकार के वस्तुओं को बताने के लिए दृष्ट का आश्रय लेना लोक की परिपाटी है। इसी आधार पर साहित्य के आभ्यन्तर विभाग को समझने के लिए भी लौकिक दृष्टान्तों का आश्रय लिया जाता है। संसार मुख्यत: स्त्रीतत्त्व तथा पुंतत्त्व का समवेत रूप होता है। इसलिए साहित्य को बताने के लिए दोनों प्रकार का समाश्रयण करके काव्यपुरुष अथवा काव्यनायिका का दृष्टान्त उदाहृत होता है। चाहे काव्य को पुरुष मानें या स्त्री, बात एक ही बनती है। माना काव्य—कविता—एक नायिका है तो उसका शरीर किस तत्त्व से बना है? इस प्रश्न का उत्तर होता है—शब्द और अर्थ। जिस प्रकार नायिका को जीवित रहने के लिए आत्मतत्त्व को मानना पड़ता है, उसी प्रकार काव्य में रस का रहना आवश्यक है। एक नायिका की उत्तमता जैसे उसके अवयवसंस्थान की संघटना पर निर्भर करती है उसी प्रकार काव्यनायिका के लिए रीति आवश्यक है। नायिका के उत्कर्ष के लिए जिस प्रकार उसके आत्मिक गुणों की सत्ता आवश्यक है, उसी प्रकार काव्यनायिका के लिए भी गुण आवश्यक है जैसे कुछ दोषों के रहने पर लोकनायिका का कभी शरीर दूषित माना जाता है तथा कभी आत्मा में स्वरूपच्युति का दोष माना जाता है, उसी प्रकार काव्यनायिका में शारीरिक तथा आत्मसम्बन्धी दोषों को भी स्वीकृति दी गई है। लोकनायिका के लिए जिस प्रकार अलङ्कार आवश्यक होते हैं, उसी प्रकार काव्यनायिका के लिए भी। जिस प्रकार लोकनायिका की वचनभङ्गी कभी हृदयावर्जक तथा कभी अवसादकारक होती है वैसे ही काव्यनायिका के भी। फलत: हृदयावर्जक उक्ति ही काव्यनायिका के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन सबके साथ ही लोकनायिका में जैसे औचित्य को मान्यता मिलती है वैसे ही काव्यनायिका के लिए भी औचित्य आवश्यक है। इतना ही नहीं, इन पांचों रस रीति अलङ्कार वक्रोक्ति तथा औचित्य के रहने पर भी एक ऐसा तत्त्व भी होता है जो इनके समुदाय की संघटना से उत्पन्न होता है तथा अत्यन्त हृदय वर्जक एवम् अपेक्षित होता है, जिसे लोकनायिका के पक्ष में लावण्य तथा काव्यनायिका के पक्ष में प्रतीयमान कहते हैं। यह प्रतीयमान ही ध्वनि है। इसीलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है—

> प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्
> यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु (ध्व० लो० १/४)

इन्हीं दृष्टियों से तत्तत् अनुभागों को मुख्यता प्रदान करते हुये साहित्य में १–रस, २–रीति, ३–अलङ्कार, ४–वक्रोक्ति, ५–औचित्य तथा ६–ध्वनि नामक ६ सम्प्रदाय चालू हुये परन्तु सबकी समाहिति उस एक में, एक ही के लिए, होती है, जिसे हम

शब्दार्थशरीर साहित्य कहते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि साहित्य बहुत प्राचीन है तथा सम्प्रदायभेद अति नवीन हैं।

## रस क्या है—

पहले लिखा जा चुका है कि 'रसो वै स:' इस वचन से सुकृत ही रस कहलाता है। साहित्य के प्रसङ्ग में भरत ने नाट्यशास्त्र में लिखा है-- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति:' अर्थात् विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यहां विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी किसे कहते हैं तथा उनका संयोग क्या कहलाता है एवं रस की निष्पत्ति का क्या तात्पर्य है, इसे जानने के बाद ही इस वाक्य का अर्थज्ञान सम्भव हो सकता है तथा 'रस क्या है' इसका तात्पर्य समझ में आ सकता है। इसलिये इन पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

लोक में देखा जाता कि किसी को देखकर उसके प्रति प्रेम तथा किसी के प्रति घृणा हो जाती है। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर है कि यहां कोई आन्तर हेतु होता है जिससे किसी के प्रति लगाव तथा किसी के प्रति दुराव उत्पन्न होता है इसीलिए भवभूति ने लिखा--

व्यतिषजति पदार्थानान्तर: कोऽपि हेतु--<br>
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय: संश्रयन्ते।<br>
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं<br>
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त:॥ (उ० रा० ६/१२)

यह आन्तर हेतु क्या है ? निश्चित रूप से द्रष्टा एवं दृश्य की औपादानिक एकता या विरुद्धता इसके प्रति कारण होती है। इसके साथ ही दूसरी परिस्थिति भी है। मान लीजिए कि किसी के प्रति मेरा प्रेम हुआ तथा उसके बाद उसके परिणाम मेरे लिये शुभ तथा तुष्टिकारक आये। उन परिस्थितियों का मैंने आकलन किया। कालान्तर में वैसी ही स्थिति नाटकादि में यदि मेरे समक्ष आयेगी तो संस्कार रूप से चित्त मे अवस्थित मेरा भाव पुन: जागृत हो जायेगा। उस भाव के साथ मेरे अन्त:स्थ साक्षी आत्मतत्त्व का एकीकरण हो जायेगा तथा मुझे आनन्द की अनुभूति होने लगेगी। आत्मतत्त्व का स्वरूप ही आनन्दमय है। फलत: भावविशिष्ट चैतन्य आत्मतत्त्व की स्वानुभूति की दशा को 'रस' कहने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होती है। लोक में इसे यह भी कहा जाता है कि यहां चित्त की स्थायी वृत्ति विभावादि के सम्पर्क से द्रुत हो जाती है तथा यह अवस्था रसानुभूति की होती है।

लोक में किसी मुख्य कारण से कार्य उत्पन्न होता है। साथ ही उस कारण के सहायक कुछ अन्य कारण होते हैं। साहित्य में उस मुख्य कारण को विभाव, कार्य को

अनुभाव तथा सहकारी कारण को व्यभिचारी कहा जाता है। प्रेम के प्रसङ्ग में नायिका की दृष्टि में नायक तथा नायक की दृष्टि में नायिका विभाव कहलाती है इसे आलम्बन विभाव कहा जाता है। जिन परिस्थितियों में नायकादि के प्रति लगाव उत्पन्न होता है, वे परिस्थितियां उद्दीपन विभाव कहलाती हैं। जिनके प्रति लगाव होता है वह आलम्बन तथा जिसके हृदय में लगाव होता है, वे आश्रय कहे जाते हैं अभिनय में दर्शक आश्रय होता है तथा भूमिकारत नटादि विभाव बनते हैं। उद्दीपन विभाव के घेरे में आलम्बन विभाव को देख कर आश्रय के चित्त में अवस्थित पुराना भाव, जिसे अब हम स्थायीभाव कहेंगे, उद्‌बुद्ध हो जाता है। अनन्तर प्रतिक्रिया के रूप में शरीर में तदनुकूल परिवर्तन स्वेद रोमाञ्च–आदि स्वत: आ जाते हैं, यही अनुभाव है। इसके साथ ही आश्रय में कुछ ऐसे भाव भी आने जाने लगते हैं जो देर तक नहीं टिकते पर स्थायीभाव के द्रुति में सहायक हो जाते हैं। उन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं। अत्यन्त द्रुत स्थायी ही रस कहलाने लगता है। यही उसकी निष्पत्ति कहलाती है। भिन्न भिन्न दर्शनों के अनुयायी लोगों ने अपने अपने दर्शनसिद्धान्त के प्रसङ्ग में रससूत्र की व्याख्या की है। इनमें लोल्लट शङ्कुक, भट्टनायक, धनञ्जय भोजराज तथा अभिनवगुप्त ख्यात हैं। मेरा कार्य इन सभी के मतों के निरूपण का नहीं है फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि जिस श्रुति के 'रसो वै स:' इस वचन से रस का हमें ज्ञान होता है, उसी श्रुति के प्रसङ्ग में ही इसका अर्थ करना समीचीन है।

साहित्यनिकाय में अभिनवगुप्त का मत बहुसम्मत है, जिसे काव्यप्रकाश में मम्मटाचार्य ने व्यवस्थित ढंग से निरूपित किया है। वे लिखते हैं कि–"लोके प्रमदादिभि: स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्येनाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वाद् अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त: सामाजिकानां वासनात्मतया स्थित: स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधि: पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण: पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रस:" अर्थात् लोक में प्रमदा आदि से स्थायी के अनुभान करने में निपुण सहृदयों का, काव्य तथा नाटक में कारणत्व आदि को छोड़कर विभावन आदि व्यापार से युक्त होने से विभावादि शब्दों से व्यवहार्य उन्हीं से 'वे मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं' या

'तटस्थ के ही हैं' अथवा 'न मेरे ही हैं' 'न शत्रु के ही हैं' और 'न तटस्थ के ही हैं' इस प्रकार के सम्बन्धविशेष को स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वालों से ही अभिव्यक्त होने वाला और सामाजिकों में वासनारूप से विद्यमान रति आदि स्थायी नियत प्रमाता में स्थित होने पर भी साधारणोपाय के बल से उसी काल में परिमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने से वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य और अपरिमित प्रमातृभाव जिसमें उदित हो गया है इस प्रकार के सामाजिक के द्वारा समस्त हृदयों के साथ समान रूप से, अपनी आत्मा के समान अभिन्न होने पर भी, विषय होकर, आस्वादमात्रस्वरूप विभावादि की स्थितिपर्यन्त ही रहने वाला, पानक रस के समान आस्वाद्यमान, साक्षात्प्रतीत होता हुआ सा हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा, समस्त अङ्गों का आलिङ्गन करता हुआ सा, अन्य सब को तिरोभूत करता हुआ सा, ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ सा, अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला श्रृंगार आदि 'रस' होता है।

पर यहां भी श्रुतिवचन के साथ उसका सङ्गमन नहीं किया गया है। इस कमी को पण्डितराज जगन्नाथ ने दूर कर प्रसङ्ग को बहुत स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि—"समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयंप्रविष्टैः तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिक-विभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः चन्द्रिकादिभि-रुद्दीपनकारणैः अश्रुपातादिभिः कार्यैः चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च सम्भूय प्रादुर्भावितेन अलौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमित प्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरी-क्रियमाणः प्राग्विनिष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः। तथा चाहुः—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः'। व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्। यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्। अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः। विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रङ्गरजतादीनामिव साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम। व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरणभङ्गस्य वोत्पत्तिविना-शाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रस उपचर्येते व्यञ्जकताल्वादिव्यापारस्य अकारादौ। विभावादि चर्वणावधित्वादावरणभङ्गस्य निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्यावृतत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते। यद्वा—विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते तन्मयीभ-वनमिति यावत। आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्। इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी

**भावो रस इति स्थितम् । वस्तुतस्तु (रसो वै सः) वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः ।"**

इसका तात्पर्य इस प्रकार है—लोक में मनुष्य नानाविध परिस्थितियों में नाना प्रकार का अनुभव करता है । यह अनुभव कभी रति, कभी हास कभी शोक तथा कभी क्रोध रूप होता है । इसी प्रकार घृणा, भय, उत्साह, विस्मय तथा शम की भी अनुभूति होती है । तत्तत् प्रकार की ये अनुभूतियाँ, जो तत्तत्प्रकार से अपना प्रभाव डालती हैं, चित्त में सदा वासनारूप में रहती हैं । इस प्रकार अनेक अनुभूतियों से सम्पन्न चित्त वाला व्यक्ति जब रूपक में वैसी ही परिस्थितियों का अनुभव करने लगता है, तब वे अनुभूतियां अपने तत्तत् प्रभाव के स्थान पर केवल एक प्रभाव छोड़ती हैं, जिसे हम आनन्द कहते हैं । यह एक विचित्र स्थिति होती है जिसमें शोक की परिस्थिति भी आनन्द उत्पन्न करती है । ऐसा क्यों होता हैं ? यह नहीं होता है, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि इसमें—सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्—जो सुख मिलता है उसमें प्रमाण सहृदयों का अनुभव है । इसलिए साहित्यदर्शन ने इस आनन्द को रसानन्द की संज्ञा दिया है ।

लोक में तत्तत् अनुभूतियों से सम्पन्न व्यक्ति जब नाटक में दुष्यन्त शकुन्तलारूप पात्रों के अभ्यास के कारण अकृत्रिम जैसे व्यवहारों को देखता है तथा समयोचित ललित शब्दों को सुनता है तो उस समय वह विभावनाजन्य साधारणीकरणरूप व्यापार के द्वारा उन पात्रों में शत्रु, मित्र तथा उदासीन की भावना को भूल जाता है । इसीलिए उन पात्रों को लौकिक कारण के स्थान पर विभाव कहा जाता है । अनन्तर पात्रों के द्वारा सत्यवत् प्रदर्शित अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों की सृष्टि व्यक्ति स्वयं में स्वतः कर बैठता है । ऐसा होते ही उन विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के समन्वय से जो अलौकिक व्यापार उत्पन्न होता है वह उस नियत प्रमाता रूप व्यक्ति को विवश कर देता है कि वह वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य हो जाय तथा उसका चित्तवृत्तिरूप-रति आदि स्थायीभाव उन्मिषित हो जाय । इस परिस्थिति में प्रमाता के निजस्वरूपानन्द के द्वारा उस उन्मिषित-द्रुत-रति आदि गोचरीकृत होती है । इसी रति आदि को आचार्य अभिनवगुप्त 'रस' कहते हैं । इसीलिए काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने लिखा—व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः । यहाँ व्यक्त का अर्थ है 'व्यक्तिविषयीकृत' तथा व्यक्ति का अर्थ है 'भग्नावरणा चित्' अर्थात् नष्टावरण शुद्धास्वादनरूप चैतन्य । यह चैतन्य स्वयं प्रकाशित हो उठा है तथा साथ में रति आदि को भी उसी प्रकार प्रकाशित करता है जैसे शराव से ढँका दीप शराव के हटने पर स्वयं तथा अन्यों को प्रकाशित करता है । बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने में चैतन्य अन्तःकरण की सहायता लेता है पर अन्तःकरण की वृत्तियों को स्वयं प्रकाशित करता

है । चूंकि यह स्थिति विभावादिसापेक्ष होती है अतः विभावादि के न रहने पर प्रकाशन का कार्य नहीं होता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मम्मटाचार्य 'भग्ना-वरणचिद्विशिष्ट स्थायी' को रस कहते हैं पर वस्तुतः इसको यदि 'रसो वै सः' इस श्रुति के प्रसङ्ग में अनुकूलतापूर्वक सगमन करें तो यह कहना अधिक समीचीन होगा कि 'रति आदि से अवच्छिन्न भग्नावरणा चित्' ही रस है । इन उपरिलिखित दोनों रसानुभूतिप्रकारों में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता सिद्ध रहती है ।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मानन्द का आलम्बन विषयविहीन शुद्ध आत्मानन्द होता है तथा वह श्रवण मनन निदिध्यासन आदि व्यापारों से होता है, जब कि, रसानन्द का आलम्बन विभावादि विषयों से मिश्रित आत्मानन्द होता है तथा काव्य की व्यञ्जना से ही इसकी चर्वणा होती है । रसास्वाद के लिए चर्वणा शब्द का प्रयोग भी इसीलिए सार्थक है क्योंकि यहां वासना रूप में प्रथमतः स्थित स्थायी ही आस्वाद का विषय बनता है । यहाँ जिस सुखांश का भान होता है उसमें प्रमाण 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह श्रुति वचन है । साथ ही सबसे बड़ा प्रमाण सकलसहृदयसंवादभाक् प्रत्यक्षानुभव है ।

यहां दो प्रश्न खड़े होते हैं । १– क्या अनुकार्य दुष्यन्तादि को रस की अनुभूति हुई थी तथा २– क्या अनुकारी नटादिकों को रस की अनुभूति होती है ? इसका उत्तर है कि दुष्यन्तादि की जो अनुभूति है, वह रूपक में हुई ही नहीं है, इसलिए यह प्रश्न ही व्यर्थ है । नट अवश्य अनुभूतिप्रवण होता है । अन्यथा नट का कार्य सब कर लेते पर ऐसा होता नहीं है । केवल कृत्रिम अभ्यास से काम नहीं चल सकता है । अनुभूत के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है पर अननुभूत भी संस्काररूप से चित्त में बना रहता है, क्योंकि वह भी जन्मान्तरानुभूत रहता है । इसीलिए कालिदास ने लिखा–

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् ।
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं ।
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।। ( अ० शा० )

इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न यह भी उठता है कि रूपक को दृष्टि में रख कर किया गया निरूपण क्या श्रव्य में भी उपयोगी है ? उत्तर है 'हाँ' । दृश्य काव्य के सामाजिक की भूमिका श्रव्य काव्य के पाठक को स्वयं निभानी पड़ती है । जिस अभिनय को देख कर या जिस काव्य को पढ़कर दर्शक या पाठक का चित्त भग्नावरण होकर रस की अभिख्या धारण करता है, किं वा, उसका स्थायी भाव द्रुत हो जाता है, वही दृश्य या

श्रव्य साहित्य 'रसयुक्त' कहलाता है। वस्तुत: यही साहित्य उत्तमोत्तम कहलाने का अधिकारी है। इसी से रस को काव्य की आत्मा कहा जाता है।

रसों की संख्या ९ होती है। १ श्रृंगार २– हास्य ३– करुण ४– रौद्र ५– वीर ६– भयानक ७– बीभत्स ८– अदभुत तथा ९– शान्त। इनके स्थायीभावों का नाम १– रति २– हास ३– शोक ४– क्रोध ५– उत्साह ६– भय ७– जुगुप्सा ८– आश्चर्य तथा ९– शम है। अनुभाव अपरिमित होते हैं पर उनमें आठ को सात्त्विकभाव कहते हैं। १– स्तम्भ २– स्वेद ३– रोमाञ्च ४– स्वरभेद ५– वेपथु ६– वैवर्ण्य ७- अश्रु तथा ८- प्रलय। व्यभिचारीभावों की संख्या ३३ है। १. निर्वेद २. ग्लानि ३. शङ्का ४. असूया ५. मद ६. श्रम ७. आलस्य ८ दैन्य ९. चिन्ता १०. मोह ११. स्मृति १२. धृति १३. व्रीडा १४. चपलता १५. हर्ष १६. आवेग १७. जडता १८ गर्व १९. विषाद २० औत्सुक्य २१. निद्रा २२. अपस्मार २३. सुप्त २४. प्रबोध २५. क्रोध २६. अवहित्था २७. उग्रता २८. मति २९. व्याधि ३०. उन्माद ३१. मरण ३२. त्रास और ३३. वितर्क।

ऊपर लिखा गया है कि रस ९ होते हैं इसमें कुछ लोग शान्त रस को रूपक का विषय नहीं मानते हैं। उनके मत में नाटकोपयोगी रस ८ ही हैं। परन्तु प्रतीक-नाटकों के द्वारा शान्तरस को भी नाटकोपयोगी सिद्ध करने की सफल चेष्टा की गई है। इस प्रकार ८ और ९ की संख्या के विवाद के विषय में उलझे लोग १० वाँ रस मानने को कथमपि सन्नद्ध नहीं होते हैं। पर १०वाँ रस 'भक्तिरस' है, ऐसी भी मान्यता बहुप्रचलित है। ९ की संख्या को 'इदमित्थम्' स्वीकार करने वाले कहते हैं कि देवादिविषया रति भाव है, न कि, रस : देव, मुनि, गुरु, नृप पुत्र आदि विषयक रति तथा सभी स्थायीभाव और व्यङ्ग्य व्यभिचारी भाव 'भाव' कहलाते हैं। यदि रस तथा भावों का अनुचित वर्णन किया जाय तो वह रसाभास तथा भावाभास कहलाता है। इसी प्रकार भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता का भी निरूपण होता है।

**भक्तिरस–**

भक्ति को भी रस मानने के पक्षपाती लोगों का कहना है कि–'परोक्षप्रिया देवा:' इस उक्ति के अनुसार श्रुति के वचन अनेकार्थक होते हैं। उनका एक विशिष्ट प्रयोजन होता है। 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' के अनुसार श्रुतिवचनों की बलवत्ता निर्विवाद है। श्रुति की ही व्याख्या स्मृति आदिग्रन्थों में प्रकारान्तर से की जाती है। साहित्य इसका अपवाद नहीं है। फलत: 'गुडजिह्विका'

न्याय से अलौकिक रस की प्रतिपत्ति के लिए ही लौकिक रस की व्याख्या की जाती है। लौकिक रस में व्युत्पन्न को ही अलौकिक रस की प्राप्ति हो सकती है। लौकिक विभाव के द्वारा लौकिक रस की अनुभूति होती है। पर यदि विभाव अलौकिक हो तो रस भी अलौकिक ही होगा। 'रसो वै सः' की अनुभूति वस्तुतः अलौकिक विभाव से ही हो सकती है। लौकिक विभाव नायिकादि की स्थितिकाल तक ही रस की सत्ता बनी रहती है पर यदि नितनूतन परमानन्दस्वरूप भावतत्त्व विभाव बन जाय तो जिस रस की अनुभूति होगी, वह अलौकिक ही होगी। इसलिए व्रजेन्द्रनन्दन या राघवेन्द्र अथवा आशुतोष, किं वा, सौन्दर्याधिष्ठात्री त्रिपुरसुन्दरी यदि विभाव बन जॉय तो अलौकिक रस–भक्तिरस–की अनुभूति होती है। लौकिक पक्ष में इस देवादिविषया रति को भाव कहते हैं पर यह जानना चाहिए कि यहाँ देव पद से सामान्य देव गृहीत होता है। महादेव-महाभाव-की विभावता का पर्यवसान अलौकिक रस में होता है और यह रस ही भक्तिरस है तथा इसका ही आस्वाद ब्रह्मास्वाद है। इसीलिए लौकिक रसास्वाद ब्रह्मास्वादसहोदर कहलाता है।

साहित्य दर्शन में अनुभूत लौकिक रस भी कार्य नहीं होता है और न तो ज्ञाप्य ही होता है, क्योंकि विभाव की जीवितावधि तक ही यह रहता है तथा यह सिद्ध भी है। यद्यपि इसे हम अलौकिक कह सकते हैं तथापि इसकी चर्वणा होती है और यह प्रत्यय का विषय भी बनता है। साथ ही इसका ग्राहक न तो निर्विकल्पक ज्ञान होता है और न तो सविकल्पक ज्ञान। इसीलिए इसे लोकोत्तर कहा जाता है।

## एक उदाहरण —

श्रृंगार का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
> निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ॥
> विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

यहाँ आलम्बन नायक है तथा उद्दीपन शून्यवासगृह है, यही दोनों विभाव पद वाच्य है। मुख निर्वर्णन, चुम्बन आदि अनुभाव तथा लज्जा हास तथा इससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं। स्थायीभाव रति है। इससे आश्रय पाठक को रस की चर्वणा होती है। हिन्दीभाषा के कवि बिहारीलाल ने इसका भावानुबाद इस प्रकार किया है–

> हौं मिसहा सोयो समुझि मुख चूम्यों ढिग जाय
> हस्यो खिसानी गर गह्यो रही गले लपटाय।

**रीतिविमर्श—**

विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं। यह वैदर्भी गौडी पाञ्चाली भेद से तीन प्रकार की होती है। कुछ लोग लाटी रीति भी मानते हैं। यदि कोई यह कहे कि यह लोक नायिका देखने में बहुत भली है, कार्य भी अच्छा करती है तथा उसको चाहने वाले भी हैं पर ऐसा कुछ नहीं है, जिसे बहुत कुछ कहा जा सके। इसका तात्पर्य है कि उसके अवयव संस्थानों की संघटना ऐसी नहीं है, जिसे मधुर कहा जा सके। बिना कुछ पूर्व परिचय के, बिना उत्तम वस्त्राभूषणादि के भी यदि अवयव संघटना उत्तम है ऐसा प्रतीत हो तो हृदय स्वत: उसकी ओर आकृष्ट होकर कहता है—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'। इसको ऐसे भी कह सकते हैं--

'सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने
अस्ति तन्न, विना येन परिस्रवति वाङ्मधु'

अर्थात् वक्ता, अर्थ तथा शब्दानुशासन के रहने पर भी 'वह' नहीं है, जिसके बिना वाणी से मधु का स्रवण होता है। यह 'वह' ही रीति है। रसानुकूल गुणों के आधार पर पद संरचना करनी चाहिये। इससे वह सौष्ठव आता है, जिसकी अपेक्षा बनी रहती है।

**अलङ्कार विमर्श--**

लोक नायिका के पास आंखें हैं। वह कज्जल भी लगाती है। पर कज्जल लगाते समय चक्षु:प्रान्त में उसे कुछ पतला सा बढ़ा देती है। इससे आंखों में परिवर्तन नहीं होता है पर उसकी शोभा बढ़ जाती है। यही अलङ्कार है. इसी प्रकार काव्य-नायिका के लिए वह शैली अलङ्कार कहलाती है, जिससे उसकी शोभा बढ़ जाती है। फलतः कहा जाता है कि 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्करान् प्रचक्षते अर्थात काव्य में शोभा के आधायक धर्म ही अलङ्कार हैं। चूंकि काव्यनायिका का शरीर शब्द और अर्थ का होता है, इसलिये अलङ्कार भी शब्द और अर्थ दोनों के होते हैं। शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे तथा नीरस तरुरिह विलसति पुरतः में यह भेद स्पष्ट प्रतिभासित है। अलङ्कारों की संख्या दिनानुदिन बढ़ती ही गई गई है। सम्प्रति शब्दालङ्कारों की संख्या ७ तथा अर्थालङ्कारों की संख्या १२३ तक पहुंच गई है। इस गणना में अलङ्कारों का निजीभेद नहीं सम्मिलित है।

**वक्रोक्तिविमर्श—** हनुमन्नाटक के—

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी गत्वा जवात्त्रिचतुराणि पदानि सीता
गन्तव्यमस्तिकियदित्यसकृद् ब्रुवाणा रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥

इस श्लोक का भावानुवाद गोस्वामी तुलसीदास ने किया है—

पुर ते निकसी रघुवीरबधू धरि धीर दये मग में डग द्वै
झलकीं भरिभाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै
तियकी लखि आतुरता पियकी अंखियां अति चारु चलीं जल च्वै

मूल श्लोक के 'असकृत्' पद में गोस्वामी जी ने सम्भालकर 'आतुरता' पद का सन्निवेश किया है. क्योंकि, क्या सीता इतनी नासमझ थीं जो पहले वनवास का अर्थ ही नहीं समझती थीं कि सम्प्रति दो पग चलकर बार-बार आग्रह करने लगीं। अतः गोस्वामीजी ने आतुरता का प्रयोग किया। पर यदि यहां 'अवशम्' पाठ कर दिया जाय तो समस्या का समाधान हो जायेगा तथा अर्थ में जो अन्तर आयेगा उसे सहृदय स्वयं समझ लें। यही वक्रोक्ति है। इसे वैदग्ध्यभङ्गीभणिति या विचित्रा अभिधा भी कहा जाता है। इसका कार्य एक साथ शब्द और अर्थ दोनों को महिमान्वित करना है।

## औचित्यविमर्श--

शब्दार्थ रूप शरीर की संरचना, रसतत्त्व की अभिव्यक्ति, गुणों की व्यवस्थिति, अलङ्करणों का आधान आदि सभी स्थलों पर तत्तत् का सन्निवेश मर्यादाविहीन न हो इसे ही औचित्य कहते हैं। जो जिसके अनुरूप हो उसका उसके साथ सङ्गमन कराना अत्यन्त आवश्यक है और यही औचित्य का पालन करना है। अन्यथा उचितस्थानविन्यास के अभाव में गुणालङ्कार आदि गुणालङ्कार रह ही नहीं सकते हैं। गुणौचित्य का निदर्शन निम्नलिखित पद्य में देखा जा सकता है। यहां विप्रलम्भ शृङ्गार के प्रसङ्ग में शब्दों के चुनाव तथा कार्यसिद्धि की असम्भवता में हेतु का प्रदर्शन अतिश्लाघ्य है--

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि।
प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः॥
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि।
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥

## ध्वनिविमर्श-

यह बताया जा चुका है कि लोकनायिका में लावण्य के सदृश काव्यनायिका में ध्वनि की सत्ता है। काव्य में कोई भी वस्तु, अलङ्कार अथवा रस तब अधिक आह्लाद कारक हो जाता है जब उससे किसी एक अन्य 'अनुभवमात्रगम्य बोधविशेष' की अनुभूति होने लगे। ऐसा होता भी है। उस बोधविशेष को ध्वनि कहा जाता है। जब

हमें १-- विधि में प्रतिषेध २- प्रतिषेध में विधि ३- विधि में विधि तथा प्रतिषेध दोनों का अभाव ४- प्रतिषेध में विधि तथा प्रतिषेध दोनों का अभाव अथवा ६- वाच्य का अन्यत्र स्थापन दिखाई दें तो ये सारी परिस्थितियाँ ध्वनि के ही कारण उत्पन्न होती हैं। शब्द की व्यञ्जनारूप वृत्ति के कारण ही यह ध्वनि होती है। वाच्य के अन्यत्र स्थापन के लिए निम्न पद्य निदर्शनीभूत है-

> दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मदगृहे दीयताम्।
> प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति॥
> एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं।
> नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः॥

## दोष-

मुख्यार्थ में जिससे व्यवधान आता है, वह दोष कहलाता है। वस्तुतः मुख्य रस होता है परन्तु रस का आश्रय होने से वाच्यार्थ भी मुख्य ही कहलाता है। फलतः पद, वाक्य, अर्थ और रस में जिसके कारण अर्थ दूषित हो उठे, वह दोष माना जाता है।

## गुण-

काव्य में अङ्गसौष्ठव को रीति कहते हैं। परन्तु आत्मस्थानीय रस में जिससे उत्कर्ष आये वह गुण कहलाता है। जैसे शौर्य आदि आत्मा के गुण होते हैं पर उनकी अभिव्यक्ति अङ्गों के द्वारा होती है, उसी प्रकार साहित्य में भी व्यञ्जक वर्णों के द्वारा गुणों का ज्ञान होता है परन्तु उपचारात् शब्दार्थशरीर में गुणों की स्थिति मान ली जाती है। इसी आधार पर शब्दगुणों तथा अर्थगुणों की चर्चा होती है। वास्तविकता यह हैं कि गुणों का इस प्रकार का विभाजन वागवतार मम्मट को अभीष्ट नहीं है। वे केवल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन ही गुण मानते है, जिनकी अभिव्यक्ति विशेष व्यञ्जकवर्णो से होती है।

## स्वरूप विभाग-

बाह्य तथा आभ्यन्तर विभाग के साथ ही साहित्य में स्वरुपगत विभाग भी होता है। यह विभाग आभ्यन्तर विभाग के आधार पर ही बनता है। शब्दार्थशरीर साहित्य की व्यवस्थिति हो जाने पर लोक के अनुसार यहाँ भी १- उत्तम २- मध्यम तथा ३- अधम साहित्य की कल्पना की जाती है।

उत्तम साहित्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कारी होना अपेक्षित है। मध्यम के लिए व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य का चमत्कारी होना आवश्यक है। अधम साहित्य में केवल वर्णनमात्र रहता है, व्यङ्ग्य का स्पर्श भी नहीं होता है।

संस्कृत साहित्य के प्रसङ्ग में आजकल वैदिक साहित्य तथा लौकिक साहित्य जैसा विभाजन चल पड़ा है पर यह अनुचित है। वस्तुतः वेद लोक से अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसीलिए महाभाष्यकार ने शब्दानुशासन के प्रसङ्ग में लिखा—केषां शब्दानाम् १ लौकिकानां वैदिकानां च'। लौकिक के ही अन्दर वैदिक समाहित होता है। इसलिए ही भगवान पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में वैदिक तथा लौकिक का कोई स्वतन्त्र विभाजन नहीं किया है। इसके साथ ही यह स्मरण रखना चाहिये कि विश्व की किसी भी भाषा के द्वारा अनुभूयमान शब्दार्थस्थिति साहित्य है। साहित्यदर्शन अपभ्रंश में भी शक्ति मानता है। यह अवश्य है कि भारतीय परम्परा संस्कृत में पुण्यजनकता मानती है–वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोः।

## सभी सम्प्रदायों में सामान्य विवेच्य-

एक विद्वान् ने लिखा कि जो व्यक्ति साहित्य, सङ्गीत तथा कला से विहीन होता है वह पशु के समान है। दूसरे विद्वान् ने इसका परिष्कार करते हुए ब्रह्मा से प्रर्थाना किया कि जो पशु नहीं हैं उनमें भी जो रसिक नहीं हैं, उन्हें काव्य सुनाने का अवसर कभी न मिले। इससे सिद्ध होता है कि रसप्रधान साहित्य एवं चित्तवृत्ति की द्रुतता में सहायक सङ्गीत तथा इन दोनों का मूर्तरूप कला वस्तुतः किसी एक ही संविद् के अवस्थाजनित त्रिविधरूप हैं। दृश्य काव्य में इन तीनों रूपों का एकत्र समावेश स्पष्ट दिखाई देता है। विशेष ज्ञान के लिए व्यवहार में इन तीनों अङ्गों की पृथक् पृथक् स्वतन्त्र विवेचना की जाती है।

रसानुभूति के लिए प्रारम्भिक अवस्था विभाव की होती है। विभाव में भी उद्दीपन विभाव की अपेक्षा आलम्बन विभाव की आवश्यकता अधिक स्पष्ट है। विश्व की कोई भी वस्तु आलम्बन बन सकती है। पशुओं के भी भय और क्रोध को लक्षित करने के लिए सहृदय मनुष्य मृगया में प्रवृत्त होता है। परन्तु विशेषतः मानव ही प्रधानतः आलम्बन बनता है। स्त्री और पुरुष दोनों की समष्टि ही सम्पूर्ण मानव है। अतः साहित्य दर्शन इसे ही अपना प्रधान विवेच्य बनाता है।

जिनको आलम्बन मान कर रसोद्गम होता है, उनमें पुरुष को नायक तथा स्त्री को नायिका कहा जाता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जितने पुरुष हैं वे सभी नायक नहीं हैं और न तो सभी स्त्रियाँ नायिका ही हैं। जो त्यागी, कृती, कुलीन, श्रीसम्पन्न रूप यौवन तथा उत्साह से पूर्ण, दक्ष, लोकानुरक्त, तेज, वैदग्ध्य, और शील से सम्पन्न हो वही नायक कहलाता है। धीरोदात्त धीरोद्धत धीरललित तथा धीरप्रशान्त भेद से नायक ४ प्रकार का होता है। इनमें प्रत्येक के दक्षिण,

धृष्ट, अनुकूल तथा शठ भेद होते हैं। इस प्रकार नायक भेद की संख्या १६ तक पहुंचती है, जो उत्तम मध्यम तथा अधम भेद से ४८ प्रकार की हो जाती है। नायक का विरोधी प्रतिनायक होता है। नायक का सहायक पीठमर्द कहलाता है। रस भेद के अनुसार सहायकों की संख्या अपरिमित बन जाती है, जिसमें विट चेट विदूषक मन्त्री पुरोहित सामन्त सैनिक सन्देशहारक आदि होते हैं। नायक में ८ सात्त्विक गुण होते हैं, जिन्हें शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, ललित तथा औदार्य कहते हैं।

सामान्यत नायिका भी स्वीया परकीया तथा सामान्या भेद से ३ प्रकार की होती है। मुग्धा मध्या तथा प्रगल्भा भेद से स्वीया ३ प्रकार की होती है। मध्या और प्रगल्भा के धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा भेद होते हैं। इस प्रकार स्वीया के १३ भेद विवेचकों ने निश्चित किया है। परकीया में परोढा तथा कन्यका का भेद किया जाता है। अवस्था भेद से इस परकीया के ८ भेद किये जाते हैं, जिन्हें १–स्वाधीन भर्तृका २–खण्डिता ३–अभिसारिका ४–कलहान्तरिता ५-विप्रलब्धा ६–प्रोषित भर्तृका ७–वासकसज्जा तथा ८- उत्कण्ठिता कहते हैं। इन्हें पुनः उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा भेद से गिनकर ३८४ की संख्या नायिका भेद में निश्चित होती है। नायिका में अङ्ग, अयत्न तथा स्वभाव भेद से उत्पन्न होने वाले अलङ्कारों की संख्या २८ मानी जाती है। अङ्गज अलङ्कार ३ होते हैं १. भाव २. हाव ३. हेला। अयत्नज अलङ्कार ७ होते हैं १. शोभा २. कान्ति ३. दीप्ति ४. माधुर्य ५. प्रगल्भता ६ औदार्य तथा ७. धैर्य। स्वभावज अलङ्कार १८ होते हैं १-लीला २-विलास ३-विच्छित्ति ४-बिब्वोक ५-किलकिञ्चित ६-मोट्टायित ७-कुट्टमित ८-विभ्रम ९-ललित १०-मद ११-विकृत १२-तपन १३-मौग्ध्य १४-विक्षेप १५-कुतूहल १६-हसित १७-चकित १८-केलि।

रस को उद्दीप्त करने वाले उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। इसमें आलम्बन की चेष्टा, रूप, भूषण, देश तथा काल परिगृहीत होते हैं। अनुभाव और व्यभिचारी-भावों की चर्चा पहले की जा चुकी है। ये सभी विषय साहित्य दर्शन में विवेच्य होते हैं। रति आदि स्थायीभावों, अनुभावान्तर्गत सात्त्विकभावों तथा व्यभिचारी-भावों के स्वरूप का स्पष्टीकरण साहित्य का विवेच्य होता है। साहित्य नायक और नायिका में होने वाले पूर्वराग, मान, कोप, साम, भेद, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर की विवेचना के साथ तत्तत् रसों में आवश्यक प्रवास स्मरदशा आदि की भी विवेचना करता है।

—:०:—

# एकादश अध्याय

## दर्शन के चौखटे में साहित्य

साहित्य दर्शन की इस संक्षिप्त विवेचना के अनन्तर यह शङ्का उठाई जा सकती है कि अब तक साहित्यदर्शनविषयक की गई मीमांसा 'दृष्टिर्दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार है पर यह उचित नहीं, क्योंकि जिन युक्तियों के आधार पर वर्तमान प्रचलित दर्शन को दर्शन कहा जाता है, उनका इसमें समावेश नहीं है। दार्शनिकता की दृष्टि से प्रमाणमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, सृष्टिप्रलयविचार, बन्धमोक्ष आदि विचार आवश्यक हैं। इस विषय में साहित्य यदि कुछ अपना विचार रखता हो तो उसे दर्शन कहना उचित होगा। यद्यपि इस प्रकार के तत्त्वान्वेषियों के लिए साहित्य में कोई विशेष स्थान नहीं है क्योंकि शुष्कतत्त्वान्वेषी को साहित्य कृती नहीं मानता है—वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती—तथापि युक्तिपूर्वक दार्शनिक विचार से साहित्य पराङ्मुख भी नहीं होता है। अतः इस पर आर्थी दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है।

### प्रमाणमीमांसा –

प्रमेय की सिद्धि जिससे हो उसे प्रमाण कहते हैं। चूंकि शब्दार्थशरीर साहित्य का प्रमेय विचित्र एवम् अनन्त है अतः प्रमाण की इयत्ता इसे अभीष्ट नहीं है तथापि सामान्य विचार करने पर साहित्य दर्शन में प्रमाणों की संख्या ८ बनती है १-प्रत्यक्ष २-अनुमान ३-उपमान ४-शब्द ५-अर्थापत्ति ६-अनुपलब्धि ७-सम्भव तथा ८-ऐतिह्य। अन्य दार्शनिक इनमें कुछ का निषेध तथा कुछ का अन्तर्भाव करके अपनी अपनी संख्या निश्चित करते हैं।

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण उसे कहते हैं जहां इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से वस्तु का अनुभव हो। साहित्य दर्शन की दृष्टि से इस अनुभव का सम्पूर्णतः वास्तविक—यथार्थ—होना आवश्यक नहीं है क्योंकि अर्थबोध के लिए स्वीकृत लक्षणावृत्ति उपचार को प्रश्रय देती है। कोई वस्तु कैसा ज्ञात होती है, यह जानना साहित्य का अपना विषय है। 'सिंहो माणवकः' में माणवक सिंह नहीं है तथापि माणवक के शौर्य को देखकर उसमें सिंहत्व का आरोप किया जाता है और सिंह का शौर्य माणवक में प्रत्यक्ष दिखाई देता है, अतः उसे सिंह कहा जाता है।

कान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः। (शिशु०)

जिस मदिरा में प्रियतम का वदन प्रतिबिम्बित था, जो मृदित सुकुमार रसाल-पुष्प के समान सुगन्धित था, जो स्वादिष्ट, गुञ्जार करते हुये भ्रमरों के कारण शब्द-युक्त तथा शीत था. उसमें इन्द्रियवर्ग– नेत्र, घ्राण, रसना, श्रोत्र तथा त्वक्– ने निर्वृति प्राप्त किया । यहां प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा अपने-अपने विषय के सन्निकर्ष के कारण ही निर्वृति प्राप्त हुई । अतः सिद्ध है कि प्रत्यक्ष की सत्ता साहित्य दर्शन में स्वीकृत है । 'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः' लिखकर कालिदास ने इस पर अपनी मुहर लगाई है ।

(२) प्रत्यक्ष हेतु के द्वारा परोक्ष साध्य की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है ।

यथा रन्ध्रं व्योम्नश्चलजलदधूमः स्थगयति
स्फुलिङ्गानां रूपं दधति च यथा कीटमणयः
यथा विद्युज्ज्वालोल्लसितपरिपिङ्गाश्च ककुभ-
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुखण्डे स्मरदवः ।।

चूंकि आकाशरन्ध्र को चञ्चल जलद के धूम (वाष्प) ने व्याप्त कर लिया है, जुगनुओं ने स्फुलिङ्ग का रूप धारण कर लिया है तथा दिशायें बिजली की ज्वाला से युक्त होकर पीली हो गई हैं, इससे मानता हूं पथिकरूपी तरुखण्ड में काम की अग्नि लग गई है ।

यहां पान्थरूपी वृक्षखण्ड में कामाग्नि की सिद्धि के लिए तीन हेतु उपस्थित किये गये हैं । इससे सिद्ध है कि साहित्य दर्शन में प्रत्यक्ष हेतु के द्वारा परोक्ष साध्य की सिद्धि को मान्यता प्राप्त है । यहां अनुमान का प्रकार है––

पथिकतरुखण्डं स्मरदावानलवत् व्योमव्यापिजलदधूमवत्त्वात्,
कीटमणिरूपस्फुलिङ्गवत्त्वात् ककुब्व्यापिविद्युज्ज्वालोल्लसितत्वाच्च ।

(३) जब किसी अज्ञातनामा पदार्थ में किसी ज्ञातनामा पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है और उस समय अज्ञातनामा पदार्थ का नाम बताने वाले वाक्य के अर्थ का स्मरण भी हो जाता है तब जो ज्ञान होता है, उसे उपमान प्रमाण कहते हैं ।

तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले
यस्तन्वि तारकान्यासः शकटाकारमाश्रितः ।

हे तन्वि तुम इस ज्योतिर्मण्डल में ताराओं के उस समूह को रोहिणी समझो जो शकट के आकार के सदृश है । यहां रोहिणी के ज्ञान में 'शकटसदृशा रोहिणी इस अतिदेश वाक्य का स्मरण होता है ।

(४) आप्तवाक्य को शब्दप्रमाण माना जाता है। आप्तता श्रुति तथा स्मृति के साथ उन पुरुषों के वाक्यों में भी मानी जाती है जो अनुभव के द्वारा वस्तुतत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान रखते हैं तथा रागादि के वश में होकर अन्यथावादी नहीं होते हैं।

विवृण्वता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीश प्रति साधु भाषितम्
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति। (कु०)

ब्रह्मचारी ! शङ्कर में दोष का निरूपण करते हुये भी तुमने एक बात (अलक्ष्य-जन्मता) सही कही है। भला बताओ जिसे श्रुतियां आत्मभू–ब्रह्मा–का भी कारण बताती हैं, वह लक्ष्यजन्म कैसे होगा ?

यहाँ 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदान्प्रहिणोति तस्मै' श्रुति को प्रमाण मानकर ही स्वपक्ष की सिद्धि की गई है।

(५) जहां अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उपपादक अर्थ की कल्पना होती है उसे अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं।

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनि
अन्यथा नोपपद्येत पयोधरभरस्थिति:।

नितम्बिनि ! तुझमें मध्यभाग है, ऐसा निश्चय किया जा सकता है। यदि मध्य-भाग न होता तो तुम्हारे पयोधर कैसे ठहरते ? यहां पयोधर को ठहरा देखकर मध्य-भाग की सूचना अर्थापत्ति के द्वारा होती है।

(६) अनुपलब्धि का दूसरा नाम अभाव है। किसी वस्तु के अभाव को ग्रहण करने के लिए अभाव को प्रमाण माना जाता है।

स्फुटमसदवलग्नं तन्वि निश्चिन्वते ते
तदनुपलभमानास्तर्कयन्तोऽपि लोका:
कुचगिरिवरयुग्मं यद्विनाधारमास्ते
तदिह मकरकेतोरिन्द्रजालं प्रतीम:॥

हे तन्वि ! तर्क करता हुआ भी संसार तुम्हारे मध्यभाग को न पाता हुआ इसे 'नहीं है' ऐसा निश्चय कर बैठता है। बिना आधार के ही कुचरूपी दो पर्वत यदि टिके हैं तो हम तो इसे कामदेव का इन्द्रजाल समझते हैं। यहां मध्यभाग के अभाव की पुष्टि अभावप्रमाण से होती है।

(७) किसी भी वस्तु की सम्भावना की जाती है। यह सम्भावना तब ही हो सकती है यदि सम्भवप्रमाण माना जाय।

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

जो कुछ लोग मेरी अवज्ञा करते हैं, वे भी कुछ जानते ही हैं पर मेरी यह कृति उन लोगों के लिए नहीं है। आगे चलकर कोई न कोई मेरा समानधर्मा अवश्य उत्पन्न होगा ( यह उन्हीं लोगों के लिए है) क्योंकि इस काल की कोई अवधि नहीं है और पृथ्वी बहुत बड़ी है। यहां सम्भव प्रमाण के नाते ही काल की अनन्तता तथा पृथिवी की विशालता सिद्ध की गई है।

(८) उन अज्ञात अनुभूत वचनों के द्वारा जिनके कर्ता का कोई पता नहीं है जब वस्तु की पुष्टि की जाती है तो ऐतिह्य प्रमाण माना जाता है।

कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ॥

यह लोकप्रचलित गाथा तो मुझे अत्यन्त कल्याण देनेवाली प्रतीत होती है जिसमें कहा गया है कि जीते हुये व्यक्ति को आनन्द अवश्य मिलता है चाहे वह सौ वर्ष में ही क्यों न मिले। अज्ञात व्यक्ति के द्वारा उक्त यह वचन एक सिद्धान्त की पुष्टि कर रहा है अतः यहाँ ऐतिह्य प्रमाण है।

इन उपरिलिखित ८ प्रमाणों के अतिरिक्त भी प्रमाण साहित्यदर्शन में माने जाते हैं। उदाहरणार्थ—

(१) आचार प्रमाण—

महाजनाचारपरम्परेदृशी
स्वनाम नामाददते न साधवः
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्
जनः किलाचारमुचं विगायति (नैष० ६/१३)

(२) अनुभव प्रमाण—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम (सा० द०)

(३) अन्तःकरणप्रवृत्ति प्रमाण—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः (अ० शा० १/१६)

**तत्त्वमीमांसा—**

इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में अन्य दर्शनों की विवेचना में यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि एक नित्य सत्ता को मानना, उसे न मानना, एक ही को अनेक रूपों में प्रतिभासमान मानना अथवा एक के साथ अनेक की सत्ता को भी मानना आदि कई प्रकार से नित्य सत्ता के विषय में विनिश्चय किया गया है। इस वाग्जाल से साहित्य को अपना सम्बन्ध अन्तःकरण की प्रवृत्ति के आधार पर बनाना पड़ता है। जगज्जात पदार्थों का वर्गीकरण करने वाले दर्शन जगदुत्पत्तिपूर्व की अवस्था में अनुमान अथवा शब्द का ही तो सहारा लेते हैं। साथ ही यह वर्गीकरण एक आवश्यकता को पूर्ण करता है जो कई प्रकार से किया जा सकता है। इसलिए साहित्यदर्शन इस विषय में अपनी दृष्टि पूर्वाग्रहरहित तथा उदार रखता है।

साहित्यदर्शन के अनुसार यह सारा जगत् एक ही तत्त्व का, जिसे हम 'ईश' कहते हैं, अनेक रूपों में दृष्ट स्वरूप है। वह ईश तत्त्व अपनी शक्ति से अपने को अष्टमूर्तियों में विभक्त करके सबके लिये प्रत्यक्ष का विषय बनता है। अष्टमूर्तियाँ उस ईश की सत्ता में प्रमाण भी बनती हैं। वे अष्टमूर्तियाँ (१) जल (२) अग्नि (३) यजमान (४) सूर्य (५) चन्द्र (६) आकाश (७) पृथ्वी तथा (८) वायु हैं। उस एक ईश की इन अष्टमूर्तियों का क्रम विचारणीय है। उस एक ईश को ही अनेक नामों से पुकारा जाता है। वेदान्त उसे एक पुरुष कहता है, जो द्यावापृथिवी में व्याप्त है। न्याय उसे ईश्वर कहता है। सर्वत्र व्याप्त यह ईश्वर प्रत्येक हृदय में भी अवस्थित रहता है, जिसे योग के सहारे मोक्षार्थी खोजते हैं। इस ईशतत्त्व के विषय में साहित्यिक दर्शन की सम्पूर्ण मान्यता है। **जहाँ तक वर्गीकरण का प्रश्न है यह दर्शन ज्ञेय शैली तथा ज्ञात शैली दोनों को प्रश्रय देता है।**

ज्ञात शैली के आधार जगत्-तत्त्वमीमांसा को हम साहित्य के शब्दार्थरूप शरीर से जान सकते हैं। सभी अर्थों का नाम होता है। नाम के अर्थ पर विचार करते हुये हमने पृष्ठ ५६ पर देखा है कि अर्थ ४ प्रकार के होते हैं। अतः कहना होगा कि दृश्य जगत् में मुख्यतः ४ पदार्थ होते हैं। (१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म तथा (४) सामान्य। ईश का भी बोध शब्द से ही होता है अतः प्रकारान्तर से वह भी अर्थ बन जाता है। चूंकि इसके गुण तथा कर्म अनन्त हैं अतः उसकी भी परिगणना द्रव्य में हो सकती है। इस दृष्टि से सोचने पर कहना होगा कि साहित्य दर्शन में ५ पदार्थ होते हैं (१) नित्य शब्द (२) द्रव्य (३) गुण (४) कर्म तथा (५) सामान्य। चूंकि शब्द और अर्थ के साथ सम्बन्ध भी नित्य रहता है और पदार्थ की दृष्टि से नित्य सम्बन्ध केवल समवाय होता है अतः उसका भी पदार्थों में ग्रहण हो जाता है। सामान्य की भाँति विशेष भी

व्यावर्तक होता है अतः उसे भी मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इन भाव पदार्थों के साथ अभाव का भी ग्रहण करना उचित है, क्योंकि अभाव प्रमाण के द्वारा अभाव की ही तो सिद्धि होती है। इस प्रकार साहित्य दर्शन में नामार्थ विभाग के बाद ८ पदार्थ निश्चित होते हैं (१) शब्द (२) द्रव्य (३) गुण (४) कर्म (५) सामान्य (६) विशेष (७) समवाय तथा (८) अभाव। यह ध्यान रखना चाहिये कि शब्द से यहां नित्य शब्द-स्फोटरूप-समझा जाता है। उत्पत्तिमत् तथा विनाशी वैखरी शब्द अथवा काकवाशितादि ध्वनि नहीं गृहीत होता है। उसका ग्रहण गुण में होता है। साहित्य की इस वास्तविकता को न समझने वाले भामह जैसे पण्डित अपने काल के परम्परानुकूल स्फोटवादी साहित्यिकों से चिढ़कर कहते हैं कि-'शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्'। इसके साथ ही साहित्यिकों का एक वर्ग द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष तथा समवाय रूप ६ पदार्थों के साथ 'रस' को भी स्वतन्त्र पदार्थ मानता है, जो अनुभवगम्य होता है। इसीलिए शारदातनय ने उनके मत का उद्धरण देते हुये लिखा——

रसो मनोविकारोऽपि पदार्थान्यितमो भवेत्<br>
पदार्थाः षट् प्रमीयन्ते रसस्यानुभवात्मकाः।<br>
अतो रसः पदार्थेभ्यो मात्रया क्वापि भिद्यते<br>
द्रव्यादीनां पदार्थानां तत्तद्रूपतया स्थितः। (भा०प्र० २/पृ० ३७)

परन्तु साहित्यदार्शनिकों का एक वर्ग यह मानते हुये भी कि रस का अन्तर्भाव ६ पदार्थों में नहीं होगा यह भी मानते हैं कि रस द्रव्यान्तर नहीं है।

न द्रव्यं न च सामान्यं न विशेषो गुणो न च<br>
न कर्म समवायो न न पदार्थान्तरं च सः।<br>
विकारो मानसो यस्तु बाह्यार्थालम्बनात्मकः<br>
विभावाद्याहितोत्कर्षो रस इत्युच्यते बुधैः॥ (भा०प्र० २/पृ० ३७)

वस्तुतः दर्शन के रूप में साहित्य के व्यवस्थित अध्ययन के अभाव के कारण यहां मतभेद दिखाई देता है। साहित्यदर्शन की मूलप्रवृत्ति मानवता की सुरक्षा तथा भावजगत् को समझने की है; अतः जडवादी अथवा शुष्क आत्मवादी, किं वा, एकाङ्गी उपासनावादी प्रवृत्ति के व्यक्तियों ने इसमें समयानुसार कुछ न कुछ अपना थोप दिया है, इसी से कुछ विरोध का आभास प्रतीत होता है।

ज्ञात शैली से विचार करने पर 'साहित्यदर्शन मूल रूप में ५ द्रव्यों को मानता है' ऐसा प्रतीत होता है १—पृथिवी, २—जल, ३—तेज, ४—वायु तथा ५—आकाश। गुण और क्रिया के आश्रय को द्रव्य कहते हैं। इन द्रव्यों के आधार पर विशेष गुणों की संख्या

भी ५ ही निश्चित होती है १—गन्ध, २—रस, ३—रूप, ४—स्पर्श तथा ५—कार्यशब्द। गुणों के अतिरिक्त जो द्रव्य में रहता हो तथा जिसमें साध्यता हो उसे क्रिया कहते हैं। यह क्रि ावस्तु कृ, भू, अस् तथा गति रूप होती है। गुण तथा क्रिया के आश्रय द्रव्य की अभिव्यक्ति भी जिस एक नित्य सत्ता से होती है उसे भी द्रव्य कहना ही होगा तथा वह सम्पूर्ण गुण और क्रिया का आश्रय होगा। वह है परमात्मा तथा उसका अश आत्मा। इसके साथ ही व्यवहार के हेतु एवं नित्य जैसे रूप में परिदृष्ट काल तथा दिक् को भी द्रव्य मानना अनुचित न होगा। यहां यह ध्यान अवश्य देना चाहिये कि आत्मद्रव्य दो द्रव्यों का समन्वित रूप होता है १-आत्मा-पुरुष-शक्तिम न्, २-प्रकृति अथवा शक्ति। मात्राभेद से आत्मतत्त्व में न्यूनता तथा अधिकता का दर्शन होता है। इस भेद का कारण शक्ति होती है। फलत: जब साहित्य ईश को अनन्तशक्तिमान् तथा ईशांश को स्वल्पशक्ति-मान् कहता है तो स्पष्ट है कि शक्ति भी कोई वस्तु है जो तत्तत् द्रव्यों के साथ नियमित रूप से रहती है। अत: शक्ति भी द्रव्य है तथा शक्तिमान् के गुण एवं क्रिया उस शक्ति के भी गुण एवं क्रिया होते हैं। 'स एकाकी न रमते—एकोऽहं बहु स्याम' रूप श्रुति तथा स्वानुभव इस बात को बताता है कि अनुभव के साधन मन को भी द्रव्य मानना चाहिये। इस प्रकार साहित्य- दर्शन में द्रव्यों की संख्या १० होती है (१) पृथिवी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिक् (८) आत्मा (९) शक्ति एवं (१०) मन।

द्रव्यों में आश्रित रहने वाले गुणों की संख्या अनन्त हैं। सामान्यत: रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, कार्यशब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार माने जाते हैं। इन गुणों के अतिरिक्त बल ऐश्वर्य वीर्य तेज सौगन्ध्य सौन्दर्य सौकुमार्य लावण्य आदि अनन्त गुणों का पूर्वलिखित सस्कार गुण में अन्तर्भाव हो सकता है। कर्म का दूसरा नाम क्रिया या भाव है। इसे ही भावना भी कहते हैं। यद्यपि उत्क्षेपण अपक्षेपण आकुञ्चन प्रसारण तथा गमन भेद से कर्म ५ प्रकार का माना जाता है पर उन सभी को गति के अन्तर्गत रख सकते हैं। वस्तुत: कृ, भू, अस तथा गम् धातु से प्रतिपाद्य भाव ही क्रिया है। इसके विकार को ही भावविकार कहते हैं जो ६ प्रकार का होता है तथा इसमें ही सम्पूर्ण कर्म समाहित हो जाते हैं। वे हैं १-जायते २-अस्ति ३-विपरिणमते ४-वर्द्धते ५-अपक्षीयते तथा ६-नश्यति। सामान्य का अर्थ जाति है। यह अन्य से स्व की व्यावर्तिका होती है। सामान्य का लक्षण है—नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। इस जाति में आकृतिसंस्थान भी परि-गृहीत होता है। जाति में असर्वलिङ्गभागिता भी रहती है। जिसके बिना द्रव्य रह ही नहीं सके उसे जाति कहते हैं। पञ्चमहाभूतों के परमाणुओं में एक स्वजातीय पर-

माणु से दूसरे स्वजातियों के परमाणु का व्यावर्तन जिससे होता है उसे विशेष कहते हैं। समवाय एक ही प्रकार का होता है, जो दो अयुतसिद्ध पदार्थों में रहता है। अभाव का तात्पर्य अनुपलब्धि से है।

ज्ञेय शैली के आधार पर जो वर्गीकरण होता है वह ईश तत्त्व से जगत्तत्त्व के परिदर्शन के मध्य का होता है, जिसकी कुछ कुछ चर्चा पृष्ठ ५२ पर की गई है। वहाँ शब्दोत्पत्ति के प्रसङ्ग में इस शैली का सहारा लिया गया है। अर्थ की दृष्टि से इसको समझने के लिए कश्यपगोत्रीय भट्टगोपालसूनु दिवाकरशिष्य साहित्यविद श्री शारदातनय का संग्रहग्रन्थ द्रष्टव्य है। उसके अनुसार साहित्यदर्शन में ३६ तत्त्व माने जाते हैं।

इह तत्त्वानि षट्त्रिंशच्छिव: शक्ति: सदाशिव:
ईश्वर शुद्धविद्येति शुद्धान्येतानि पञ्च च ॥
माया कालोऽथ नियति: कला विद्या तत: परम्
राग: पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त वै ॥
तत: प्रकृतिरेतस्या: प्रकृतेस्तु गुणत्रयम्
गुणत्रयेऽपि भिद्यन्ते रूपनामक्रिया: सदा ॥
ईदृग्विलक्षणां शक्तिं यदा सङ्क्रमते पुमान्
प्राज्ञ – तैजसविश्वत्वभेदत्रयमथान्वगात् ॥
प्रधानमनयोर्व्याप्तं प्राज्ञ एकोऽन्यवस्तुनि
शिष्टस्त्वस्मिस्त्वसम्पूर्ण इत्थमेषां प्रवर्तनम् ॥
तैजस: सप्तधा भिन्नो बुद्धिगर्व - ख - वायुभि:
वह्न्यम्भ:क्षितिभिश्चैते कार्यकारणमूर्तय: ॥
एतेषां समवायस्तु विश्व आसीच्च तन्मय:
सोऽपि त्रैविध्यमन्विच्छन् विराट्पुरुष ईश्वर: ॥
बीजत्रयेण भिन्न: स्यात् सोमसूर्याग्निरूपिणा
स रुद्रोपेन्द्र – पद्मोत्थगुणत्रयविभेदिना ॥
विश्वाख्ये पार्थिवेचाण्डे प्राणिनो भूतमूर्तय:
चतुष्प्रकारसम्भिन्ना नश्वरास्तु प्रजज्ञिरे ॥
जीवत्वमेषामपरं प्रतिभेदमियात्प्रभु:
कालप्रेरितयोर्वायुर्दम्पत्योः सङ्गमान्मिथः ॥
पौरुषीं प्राकृतीं शक्तिं शुक्लशोणितरूपिणीम्
वायुद्वयेन सहितं गर्भाशयमुपानयेत् ॥

अनादयश्च क्षेत्रज्ञा बहवः कर्मभाविताः
सन्ति कालार्थिनः शेषाः कश्चित् कालेन चोदितः ।।

(भा० प्र० ७/पृ० १८१)

इन उपरिलिखित पक्तियों के साथ निम्नलिखित पंक्तियों को मिलाकर पढ़ने से इस प्रसंग का स्वरूप स्पष्ट होता है।

संवित्प्रकाशानन्दात्मा गम्यः स्यात स्वानुभूतितः
अहङ्काराभिमानात्मा बाह्यार्थेषु प्रकाशते ।।
अहङ्काराभिमानादिस्वरूपं कथ्यतेऽधुना
परस्मादात्मनो भान्ति ज्ञानानन्दक्रियाप्रभाः ।।
ज्ञानाप्रभासाश्चैतन्यमणेर्जीवस्य सर्वतः
शरीरव्यापिनी तत्र व्याप्तना भवति स्फुटम् ।।
सैषा परात्मनः सर्ववस्तुत्था चेतना भवेत्
तथानन्दप्रभासाऽपि पुरुषेषु समन्ततः ।।
अभिव्यक्ता सती तेषां सुखं वैषयिकं भवेत्
क्रियाप्रभा भवेत्प्राणः स देहेषु प्रवर्तते ।।
परमात्मा सर्ववस्तुपरिस्पन्दप्रवर्तकः
ज्ञानप्रभा च सानन्दा तस्याः सत्त्वं प्रजायते ।।
क्रियाप्रभा रजःसत्त्वाच्छक्तिः स्यादुत्तमा प्रसूः
मनोमयादयस्तासामधिष्ठातार ईरिताः ।।
पृथक् कदाचित् तिष्ठन्ति मिलितानि कदाचन
सत्त्वं विशालं तस्यान्तरुदरे रजसः स्थितिः ।।
तस्यान्तरुदरे तस्य तमसः स्थितिरुच्यते
आत्मा तस्यान्तरुदरे मनसः स्थितिरुच्यते ।।
मिलितानीति जानन्ति नैरन्तर्यात्परे पुनः
सत्त्वं मध्येऽभितस्तस्य रजस्तम इतीर्यते ।।
तन्मात्रैः सह भूतानि दश ज्ञानेन्द्रियाणि च
कर्मेन्द्रियैः सह दश मनस्तदुभयात्मकम ।।
अहङ्कारेण युक्तानां तन्मात्राणां यथाक्रमम्
दशेन्द्रियाणि कथ्यन्ते तेषां विकृतयस्त्विति ।।
अहङ्कारस्य चैकस्य विकृतिर्मन उच्यते
प्रकृतेर्विकृतिः सोऽपि महान् सा च त्रिधा भवेत् ।।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति सात्त्विकी
निश्चिन्वतीति विषयान् बुद्धिरित्युच्यते बुधैः ॥
स्वांशैः सह युता सर्वजीवानामुपकारिका
अंशाः स्युर्व्यष्टयस्तस्या विज्ञानेन्द्रियपञ्चकम् ॥
साहायकं भवेत्तद्वद्विषयालोचनादिषु
मनश्चोपकरोत्यस्याः सङ्कल्पेन ततस्ततः ॥
अपरोक्षावभासो यः तदालोचनमुच्यते
यः परोक्षावभासस्तु स सङ्कल्प इतीरितः ॥
अहङ्कारोऽभिमानेन बुद्धेरुपकरोति यः
ज्ञातुर्ज्ञेयेन सम्बद्धो देशकालनिबन्धनः ॥
यो ममेति ग्रहः सोऽयमभिमान इतीरितः
क्रियाया हेतुभूतत्वाद् राजसी प्राण उच्यते ॥
स्वांशैरुपकरोत्येव भूतानामाशयस्थितः
कर्मेन्द्रियाणि विषयैः स्वैस्वैस्तस्योपकुर्वते ॥
मनश्च कुर्यामित्यादि सङ्कल्पेनोपकारकम्
तामसी सृष्ट्यवस्थायां सततं परिणामतः ॥
कालो भवति तस्यैव परिणामाः क्षणादयः
तेनैव सर्वभूतानां परिणामः प्रवर्तते ॥
स कालः स्पन्दरूपेण पदार्थान्परिणामयन्
अनुगृह्णाति वेत्तारं वित्तिं वेद्यं च तत्त्वतः ॥
अहङ्कारस्त्रिधा सोऽयं सत्त्वादिगुणभेदतः
सत्त्वादिगुणभेदेन योऽहङ्कारस्तु सात्त्विकः ॥
वैकारिकश्चेन्द्रियादिरिन्द्रिय – प्रकृतिर्भवेत्
भूतादिस्तामसः शब्दतन्मात्रप्रकृतिर्भवेत् ॥
राजसस्तैजसः सोऽपि द्वयोरुपकरोति हि
अहङ्कारस्य वृत्तिर्या सोऽभिमानः प्रकीर्तितः ॥
साभिमानात्मिका वृत्तिस्तत्तदिन्द्रियगोचरा
बाह्यार्थालम्बनवती शृङ्गारादिरसात्मताम् ॥
याति तत्र विभावादिभेदाद्भेदं प्रयाति च ॥

(भा० प्र० २/पृ० ४१-४३)

इसका सारांश यह है कि साहित्य दर्शन में ३६ तत्त्व माने जाते हैं। उनके नाम हैं १-शिव २-शक्ति ३-सदाशिव ४-ईश्वर ५-शुद्धविद्या ६-माया ७-काल

८-नियति ९-कला १०-विद्या ११ राग १२-पुरुष १३-प्रकृति १४-महत् १५-अहङ्कार १६-शब्दतन्मात्रा १७-स्पर्शतन्मात्रा १८-रूपतन्मात्रा १९-रसतन्मात्रा २०-गन्धतन्मात्रा २१-श्रोत्रेन्द्रिय २२-त्वगिन्द्रिय २३-चक्षुरिन्द्रिय २४·जिह्वेन्द्रिय २५-घ्राणेन्द्रिय २६-वागिन्द्रिय २७-पाणीन्द्रिय २८-पादेन्द्रिय २९-पायुइन्द्रिय ३०-उपस्थेन्द्रिय ३१-मन ३२-आकाश ३३ वायु ३४-तेज ३५ जल ३६-पृथिवी। इनमें १ से ५ तक शुद्ध तत्त्व कहलाते हैं। ६ से १२ तक शुद्धाशुद्ध कहलाते हैं तथा शेष १३ से ३६ तक अशुद्ध कहे जाते हैं। प्रथम और द्वितीय तत्त्व सदा अविभक्त रहते हैं। इनमें विभाग का दर्शन व्यवहार की दृष्टि से होता है। ये ५ तत्त्व प्रमातृगत हैं और शक्ति के विभिन्न पक्षों के उन्मेष के कारण सम्भव होते हैं। प्रथम में चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है तथा द्वितीय में आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है। इसी प्रकार तृतीय में इच्छाशक्ति, चतुर्थ में ज्ञानशक्ति एवं पञ्चम में क्रिया शक्ति का प्राधान्य रहता है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति विशिष्ट सत् प्रमाता माया के द्वारा काल, नियति, कला, विद्या तथा राग तत्त्वों से विनिविष्ट होता हुआ पुरुष संज्ञा धारण करता है। इसके साथ ही प्रकृति तत्त्व के साथ इस पुरुष का संक्रमण होता है। चूंकि प्रकृति सत्त्व, रजस् तथा तमस् रूप तीन गुणों से विशिष्ट होती है अतः पुरुष के भी तीन नाम, गुणों के आधार पर, बन जाते हैं। सत्त्वप्रकृति के साथ का पुरुष प्राज्ञ, रजः प्रकृति के साथ का पुरुष तैजस तथा तमः प्रकृति के साथ का पुरुष विश्व कहलाता है। प्राज्ञ पुरुष, जिसे संवित्प्रकाशानन्दात्मा कहा जाता है, अविपरिणामी होता है। उससे ज्ञानप्रभा, आनन्दप्रभा तथा क्रियाप्रभा का प्रस्फुटन होता है। वस्तुगत चेतना का कारण यह ज्ञानप्रभा होती है। आनन्दप्रभा के कारण वैषयिक सुख की प्राप्ति होती है तथा क्रियाप्रभा के कारण ही वस्तुओं में परिस्पन्द होता है। प्रकृतिसंयुक्त तैजस पुरुष ही क्रमशः महान्-बुद्धि, गर्व-अहङ्कार, शब्द, स्पर्श रूप, रस तथा गन्धरूप तन्मात्रा में अपने को विभक्त कर लेता है और ये सात तत्त्व कारण तथा कार्य दोनों होते हैं। अर्थात् तैजसपुरुषसङ्क्रान्त रजः प्रकृति महान् को उत्पन्न करती है। उत्पत्ति का तात्पर्य रूपान्तर से है। यह महान्-बुद्धि भी सात्त्विकी राजसी तथा तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है। विषयों का विनिश्चय करने के कारण ही इसे बुद्धि कहते हैं। बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है। यह भी सत्त्व रज तथा तम से युक्त होता है तथा इससे शब्द स्पर्श रूप रस तथा गन्ध रूप तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। इनके समवाय से विश्व अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। यहाँ से विश्वपुरुषसङ्क्रान्त तमःप्रकृति का विपरिणाम देखने को मिलता है, जिसमें तन्मात्रा-युक्त अहङ्कार के द्वारा पञ्चज्ञानेन्द्रियों तथा पञ्चकर्मेन्द्रियों एवं विशुद्ध अहङ्कार से मन अपने स्वरूप को प्राप्त करता है तथा पञ्चतन्मात्रायें क्रमशः आकाश वायु अग्नि जल तथा गन्ध रूप पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति करती हैं। यहाँ से विश्व पुरुष अपने

को तीन रूपों में बाँटता है जिसे ईश्वर, पुरुष (हिरण्यगर्भ) तथा विराट् कहते हैं जो सोम सूर्य अग्नि रूप बीज की भिन्नता के कारण होते हैं तथा जिनका दर्शन रुद्र विष्णु एव ब्रह्मा के रूप में देखा जाता है। इनमें कारणाभिमानी को ईश्वर, सूक्ष्माभिमानी को पुरुष (हिरण्यगर्भ) सथा स्थूलाभिमानी को विराट् कहते हैं। यह विराट् ही चतुष्प्रकारसम्भिन्न होकर अण्डज पिण्डज ऊष्मज तथा उद्भिद भेद से जीव की संज्ञा धारण करता है और अनन्त होता है, जिसमें बहुत जीव समयानुसार वायु के साथ प्रेरित होकर दम्पती के शुक्रशोणित रूप प्राकृतशक्ति के माध्यम से गर्भाशय में पहुँच जाते हैं। सामान्यत मूल प्रकृति के साथ सम्बद्ध पुरुष को समष्टिपुरुष तथा स्थूल प्रकृति से सम्बद्ध पुरुष को व्यष्टिपुरुष कहा जाता है। यह व्यष्टिपुरुष पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से विषयों की आलोचना करता है, जिसमें मन सङ्कल्प के द्वारा उसका उपकार करता रहता है। अपरोक्षावभास को आलोचना तथा परोक्षावभास को सङ्कल्प कहते हैं। यहां जानना चाहिये कि आलोचन रूप कार्य अन्तःकरण के द्वारा होता है, जिसमें बिम्बग्राहित्वावस्थासम्पन्न चित्तरूप मन तथा चञ्चल सङ्कल्पविकल्पात्मक मन एवं विनिश्चय का हेतु बुद्धि और अहङ्कार सम्मिलित रहते हैं। यहाँ बुद्धि का उपकार अहङ्कार अपनी वृत्ति के द्वारा करता है, जिसे अभिमान कहा जाता है। 'यह मेरा है' यह ज्ञान अभिमान के ही द्वारा होता है। यह अहङ्कार ही सभी प्राणियों के आशय में स्थित रहता है। इसका ही परिणाम काल कहलाता है, जिससे सभी भूतों में परिणाम दृष्ट होता है। पदार्थ मात्र में परिवर्तन का कारण यह काल ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का बोध कराता है। अहङ्कार की वृत्ति अर्थात् चित्तवृत्ति रूप अभिमान ही जब बाह्यार्थालम्बनवान् होता है तब उसे रस कहा जाता है।

## सृष्टि और प्रलय—

उपरिलिखित द्वितीय-ज्ञेय-शैली के अनुसार प्रकृति से विक्षुब्ध होकर परमतत्त्व सृष्ट्युन्मुख होकर सृष्टि की अभिव्यक्ति करता है, यह आर्षी सृष्टि की दृष्टि से साहित्य-दर्शन की मान्यता है। सृष्टि के बाद दृष्ट पदार्थों का वर्गीकरण प्रथम–ज्ञात–प्रकार की शैली से इस दर्शन में होता है। पृष्ठ ५२ में बताया गया है कि मायावृत्ति से जायमान त्रिगुणात्मक अव्यक्त बिन्दु-शक्ति-तत्त्व-के १–चित, २–अचित् तथा ३–चिदचित् भेद से तीन अंश होते हैं। इनमें चिदंश ब्रह्मरूप अचिदंश अविद्या तथा चिदचित् अंश नाद होता है। अपने ग्यारह प्रतिरूपों में अभिव्यक्त होता हुआ चिदंश अचिदंश से संक्रान्त होकर सृष्टि का विस्तार करता है। इस प्रक्रिया को पूर्व पृष्ठों में देख सकते हैं।

जो अभिव्यक्त होता है वह कालानुसार कभी न कभी अपने पूर्वरूप में आने के कारण अनभिव्यक्त हो जाता है। जगत् को सदा एक रूप में रहने वाला–अपरिवर्तनीय

रूप-नित्य मानना साहित्य दर्शन की प्रकृति के प्रतिकूल है। व्यावहारिक नित्यता मानी जाती है। इस प्रकार की नित्यता मानने के कारण ही 'सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी' जैसी बात कही जाती है। रमणीयता को प्रतिक्षण की नूतनता में देखने वाला साहित्य इस विपरिणामी जगत् को तब तक ही नित्य मानेगा जब तक कि शब्दार्थरूप सुकृत ऐसा रहना चाहता है। अभिव्यक्त जगत् का अनभिव्यक्त हो जाना ही प्रलय है। इस समय माया ईश्वर में लीन हो जाती है। ज्ञात शैली की रीति से इसे परमेश्वर की इच्छा से विपरीतक्रम के द्वारा मूलरूप में अवस्थिति कहते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि यह प्रलय अप्रादुर्भावफलक आत्यन्तिक नाश नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो उत्तरसर्ग की उपपत्ति नहीं होती। 'सर्वथा अभाव हो जाता है' ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि यदि वस्तु का अनवभास हो जाय तो इसे अभाव का दूसरा रूप कह सकते हैं। कार्य-प्रवृत्ति के अभाव में इसे सुप्त जैसा कहा जा सकता है।

## बन्ध और मोक्ष—

व्यष्टि पुरुष का जगत में फंसना ही बन्ध है तथा उससे उबरना मोक्ष है। व्यक्तिगत रीति से यह बन्ध और मोक्ष बुद्धि के अवस्था-विशेष हैं। अनात्म जैसे घटादि में आकाश अन्तः तथा बाह्य दोनों रूपों में व्याप्त रहता है उसी प्रकार ईश सभी पिण्डों में वर्तमान है। अनात्म देह में आत्मबुद्धि ही बन्धन के लिए होती है। वस्तुतः विपरीत क्रम से सोचने पर—

'त्रिभिरेव विश्वतैजसप्राज्ञैस्तैरादिमध्यनिधनाख्यैः
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तैर्भ्रमभूतैश्छादितं तुर्यम्'

कहना ही उपयुक्त है। मोक्ष दो प्रकार का होता है १—समष्टिमोक्ष तथा २—व्यष्टि-मोक्ष। समष्टिमोक्ष सुकृत पर निर्भर है। प्रकृति पुरुष को भली-भाँति समझकर कल्पनाजाल से निकलने पर ही मोक्ष मिलता है। रसानुभूति की अवस्था मे प्रतिपन्न हो जाने वाले ही क्रमशः स्वरूपानुभूति में तन्मय होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि प्रथमतः नीविमोक्ष का अभ्यासी पुनः आत्ममोक्ष का अभिलाषी जडचेतन की ग्रन्थि सुलझा सकता है। इसका सर्वोत्तम उपाय सर्वात्मना चैतन्यरूप की शरण में जाना है। इस शरणागति के लिए आवश्यक है कि अन्तःकरण कह उठे कि—

न मेऽनुरागः सकले प्रपञ्चे न वा त्वदन्येषु मम प्रवृत्तिः
तस्मात्श्रयेऽहं चरणौ तवैव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

—:०:—

# द्वादश अध्याय

## उपसंहार

दर्शनसिद्धान्तों की कालक्रम से सामान्य विवेचना करने के अनन्तर यह आवश्यक हो जाता है कि लोकमानस पर उन दर्शनों के प्रभाव का आकलन किया जाय। वाल्मीकि और व्यास के बाद तथा भास के पूर्व की साहित्यिक कृतियों का पता नहीं चलता है तथा भास तक प्रमुख दर्शनों का रूप भी व्यवस्थित हो चुका था, इसलिए भास से ही इसकी मीमांसा करना उचित होगा। कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है और उस काल की प्रमुख विचारसरणि उसके काव्य में प्रतिबिम्बित रहती है।

### भासकाल—

भास ने रामायण महाभारत तथा लोककथा से सामग्री लेकर १३ नाटक लिखा है। जनानुरञ्जन तथा स्वान्त:सुख के लिए लिखे गये इन नाटकों से पता चलता है कि तत्काल में सामान्य जन की प्रवृत्ति रामायण तथा महाभारत के आदर्शों की ओर रहती थी। अधिसंख्य जन रामायण तथा महाभारत के दर्शन की मान्यता को मानते थे। भास ने अपने १२ नान्दीश्लोकों में विष्णु की विभिन्न रूपों में स्तुति की है। साम्प्रदायिक रामानुजादि वैष्णव के बहुत पूर्व ही भास के काल में जगत्कर्तृत्व नियन्तृत्वादि विष्णु के अधीन मानी जा चुकी थी। यद्यपि उन दिनों प्राय: सभी दर्शन स्वरूप धारण कर चुके थे पर उनकी किसी मान्यता का भास के कृतियों में दर्शन नहीं होता है। यदि होता है तो उस स्मार्त परम्परा का, जो श्रौतपरम्परा का ही उपबृंहित रूप है, जिसमें कहा जाता है—

> धर्मं समाचर कुरु स्वजनव्यपेक्षां
> यत्कांक्षितं मनसि सर्वमिहानुतिष्ठ
> जात्योपदेश इव पाण्डवरूपधारी
> सूर्यांशुभि: सममुपैष्यति व: कृतान्त:॥ (दूत घटोत्कच)

### कालिदास काल—

कालिदास के तीन नाटकों के नान्दीश्लोकों तथा रघुवंश के प्रथम श्लोक को यदि हम अपने समक्ष रखें तो उस दर्शन का पता हमें चलता है जो उनके समय में जनमानस को अभिप्रेत था।

विक्रमोर्वशीय में— वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥

मालविकाग्निमित्र में-- एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद् यतीनाम्
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥

अभिज्ञान शाकुन्तल में-- या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

रघुवंश में-- वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

लिखकर कालिदास हमें बताते हैं कि साहित्यदर्शन के अनुसार इस विश्व का कर्ता कोई एक तत्त्व है, जिसे ही वेदान्त एकपुरुष ( ब्रह्म ) तथा न्याय ईश्वर कहता है। विश्व का यह कर्ता विश्व से अतिरिक्त नहीं है, अपितु, वह सब प्राणियों के अन्तः में रहता है तथा उसी की प्राप्ति के लिए योगमार्ग में प्राणायाम आदि का प्रविधान किया गया है। वह तत्त्व अपने को आठ रूपों में प्रकट करता है। ये सब उसकी अपनी ही प्रकृति हैं। इस तत्त्व को हम स्थाणु कह सकते हैं क्योंकि जो सदा रहे वह स्थाणु कहलाता है---तिष्ठतीति स्थाणुः। योग मार्ग से प्राप्य अन्तःस्थ यह स्थाणु सामान्य-जनों की प्रतीति का भी विषय बनता है। उस समय वह आकार धारण करता है तथा कान्तासम्मिश्रदेह बनता है। उस अवस्था में हम उसे पार्वतीपरमेश्वर कहते हैं, जो वागर्थ के समान सम्पृक्त रहता है। उसी की कृपा से वागर्थ की प्रतिपत्ति होती है। इस शक्तिविशिष्ट शक्तिमान् की उपासना से ही निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। उपासना में योगपूर्वक स्थिरभक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यदि यह ईश प्राणियों की तामसी वृत्ति का अपनयन कर दे तो सन्मार्ग का आलोक दृष्ट हो सकता है, अन्यथा जो भी मार्ग दृष्ट होगा वह सत् नहीं होगा, क्योंकि वहाँ तर्क प्रधान होगा, भक्ति की प्रधानता नहीं होगी। इस प्रमेय की सिद्धि के लिए सबसे बड़ा प्रमाण अन्तःकरण की प्रवृत्ति होती है--

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास ने निगूढ रूप में सभी दर्शनों की मान्यताओं को उपस्थित करते हुये भी जनमानस को अभीष्ट उस दर्शन को उपस्थित किया है जिसे हम साहित्यदर्शन कह सकते हैं। विधि के प्रतिपादन में दत्तचित्त श्रोत्रिय की हँसी दर्शनान्तर के आग्रह पर हम नहीं कर सकते हैं क्योंकि–अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः। स्पष्ट लक्षित प्रत्यक्षमूर्ति नित्यतत्त्व का भी हम अपलाप नहीं कर सकते हैं और न तो उस आचारपरम्परा को ही झुठला सकते हैं, जिसमें आजन्मशुद्धि, आफलोदयकर्म, यथाविधिहुताग्नि, सत्य, त्याग यश, प्रजा, मुनिवृत्ति तथा योग अपेक्षित हैं। अव्यवस्था का जनक यह कहना कि "इस जन्म के बाद सब कुछ समाप्त होगा" उचित नहीं है क्योंकि पुनर्भव का निरोध तो आत्मभू की कृपा से ही हो सकता है। इस मान्यता के अनुसार चलने पर ही पार्थिव प्रकृतिहित में प्रवृत्त होंगे, श्रुतिमहती सरस्वती का उत्कर्ष होगा तथा उससे श्री का भी योग होगा। साहित्यदर्शन की मान्यता अपने ही दुःखों की समाप्ति तक नहीं है, अपितु, वह चेतनातिरिक्त जडों से भी कहता है– मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः–– हे मेघ ! विद्युत् से तुम्हारा बियोग क्षणभर के लिए भी न हो– पर ऐसा होने के लिए तुम्हें भी दूसरों के दुःख को दूर करने के लिए आयास करना पड़ेगा––

काश्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः।

## अश्वघोषकाल—

बौद्ध कवि अश्वघोष के साहित्य में बौद्धदर्शन का प्रतिपादन किया गया है। भारत में उन दिनों बौद्धदर्शन प्रचार पा चुका था। जैसा कि सुविदित है बौद्धधर्म की विस्तृति में हेतु राजाश्रय का प्राप्त होना है तथापि बौद्धधर्म को साहित्य की दृष्टि से सहृदय जनमानस तक पहुंचाने का कार्य अश्वघोष ने किया। इसी परिपाटी में आर्यशूर तथा मातृचेट ने कार्य किया। पर इस प्रकार के साहित्य को स्थायिता नहीं मिली तथा बौद्धधर्म के प्रचार का कार्य दूसरे प्रकार से हुआ पर साहित्य ने उसमें हिस्सा नहीं बटाया। इसका कारण था बौद्धदर्शन के साथ उपस्थापित साहित्य के शब्दार्थरूप शरीर का विखण्डन। उदाहरण के लिए कालिदास और अश्वघोष के कुछ पद्यों की तुलना आवश्यक है।

१– कालिदास ने लिखा–– परस्परेण स्पृहणीयशोभं
न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्
अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः
पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत्। (कु०सं० ७/६६)

अश्वघोष ने लिखा-- तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः
सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः
द्वन्द्वं ध्रुवं तद् विकलं न शोभे-
तान्योन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ । (सौन्द० ४/७)

कालिदास के पद्य में प्रतिपादित है कि जगत्कर्ता का सोद्देश्य रूपविधान परस्पर में मिलाने के लिए होता है तथा वह द्वन्द्व कभी विच्युत नहीं होता है। अश्वघोष ने द्वन्द्व के अमिलन में शोभा की हानि बताई है। यहाँ इस मिलन की समता भी रात्रिचन्द्र के मिलन से की गई है। द्रष्टव्य है कि एक ओर कर्तृत्व का प्रश्न तथा सम्पूर्ण मिलन है दूसरी ओर अधूरा मिलन तथा स्वभाव सिद्धता है। सम्पूर्ण मिलन का अभाव जन-मानस को अनभिप्रेत है।

२--कालिदास ने लिखा--तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।।
(कु० सं० ५/८५)

अश्वघोष ने लिखा--तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष
भार्यानुरागः पुनराचकर्ष
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ
तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ।।
(सौन्द० ४/४२)

कालिदास के पद्य में वेग से भागने की प्रवृत्ति से उत्पन्न छटपटाहट तथा अव-रोध की विशालता ने 'न ययौ न तस्थौ' की भावना को जन्म दिया है। अश्वघोष के पद्य में बुद्ध के गौरव तथा भार्यानुराग की रस्साकसी का वर्णन है, जो कभी इधर कभी उधर करता है। रस्साकसी के 'न ययौ न तस्थौ' में रस्सी के खींचने से उत्पन्न विव-शता है, जो साहित्य की दृष्टि से सहृदयों के अन्तः में अपना स्थान वैसा नहीं बना पाती है जैसा कि कालिदास की उक्ति, जिसमें रुकना तो अनभीष्ट है पर अवरोध बड़ा विशाल है। साहित्य की दृष्टि से कालिदास की उपस्थापना जनमानस को झकझोरने वाली है। फिर भी अश्वघोष के पद्यों को जो भी सफलता मिली है वह साहित्य दर्शन की अनुभूत पद्धति को है। यों तो विषय की दृष्टि से उपस्थापित सिद्धान्तों का प्रति-पादन करने में अश्वघोष समर्थ हैं पर तर्क लचर हैं।

उदाहरणार्थ--सूत्रेण बद्धो हि यथा विहङ्गो व्यावर्तते दूरगतोऽपि भूय:
अज्ञानसूत्रेण तथावबद्धो गतोऽपि दूरं पुनरेति लोक: ।।
(सौन्द० ११/५९)

प्रवृत्तिदु:खस्य च तस्य लोके तृष्णादयो दोषगणा निमित्तम्
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्न कालो नापि स्वभावो न विधिर्यदृच्छा ।।
(सौन्द० १६/१७)

पक्षी को सूत्र से आबद्ध करने वाला कोई दूसरा होता है पर क्या अज्ञान सूत्र से व्यक्ति को बाँधने वाला भी दूसरा है ? क्या तृष्णादि दोष काल नियन्त्रित नहीं होते हैं ? इन तर्कों के रहते जनमानस ने अश्वघोष की कृति को उतनी मान्यता नहीं दी तथा शनै: शनै: वह पुरानी पद्धति पर चलने लगा ।

## भारवि-माघकाल--

इस काल की प्रमुख रचनायें किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध हैं । इन काव्यों से पता चलता है कि जनरुचि बौद्धकाव्यों को छोड़कर पुन: पुरानी परिपाटी पर आसक्त हो उठी थी, जिसमें पौराणिक जीवन एवं मर्यादा का बाहुल्य है । इस काल में इतना अवश्य हुआ कि वर्ण्य की अपेक्षा वर्णनशैली में वैशिष्टय लाया गया । भारवि के निम्न-श्लोक द्रष्टव्य हैं--

शरणं भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यमधिगम्य जना:
जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगत: शरणम् ॥
विपदेति तावदवसानकरी न च कामसम्पदभिकामयते
न नमन्ति चैकपुरुषं पुरुषास्तव यावदीश न नति: क्रियते ।।
संसेवन्ते दानशीला विमुक्त्यै सम्पश्यन्तो जन्मदु:खं पुमांस:
यन्निसङ्गस्त्वं फलस्यानतेभ्यस्तत्कारुण्यं केवलं न स्वकार्यम् ।।
प्राप्यते यदिह दूरमगत्वा यत्फलत्यपरलोकगताय
तीर्थमस्ति न भवार्णवबाह्यं सर्वकामिकमृते भवतस्तत् ।।
व्रजति शुचि पदं त्वयि प्रीतिमान्प्रतिहतमतिरेति घोरां गतिम्
इयमनघ निमित्तशक्ति: परा तव वरद न चित्तभेद: क्वचित् ।।
दक्षिणां प्रणतदक्षिणमूर्ति तत्त्वत: शिवकरीमविदित्वा
रागिणापि विहिता तव भक्त्या संस्मृतिर्भव भवत्यभवाय ।।

दृष्ट्वा दृश्यान्याचरणीयानि विधाय
प्रेक्षाकारी याति पदं मुक्तमपायैः
सम्यग्दृष्टिस्तस्य परं पश्यति यस्त्वां
यश्चोपास्ते साधु विधेयं स विधत्ते ॥

युक्ताः स्वशक्त्या मुनयः प्रजानां हितोपदेशैरुपकारवन्तः
समुच्छिनत्सि त्वमचिन्त्यधामा कर्माण्युपेतस्य दुरुत्तराणि ॥

संनिबद्धमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभयं भुवनानाम्
अद्भुताकृतिमिमामतिमायस्त्वं बिभर्षि करुणामय मायाम् ॥

न रागि चेतः परमा विलासिता वधूः शरीरेऽस्ति न चास्य मन्मथ
नमस्क्रिया चोषसि धातुरित्यहो निसर्गदुर्बोधमिदं तवेहितम् ॥

तवोत्तरीयं करिचर्म साङ्गजं ज्वलन्मणिः सारशनं महानहिः
स्रगास्यपङ्क्तिः शवभस्म चन्दनं कला हिमांशोश्च समं चकासति ॥

अविग्रहस्याप्यतुलेन हेतुना समेतभिन्नद्वयमूर्ति तिष्ठतः
तवैव नान्यस्य जगत्सु दृश्यते विरुद्धवेषाभरणस्य कान्तता ॥

आत्मलाभपरिणामनिरोधैर्भूतसङ्घ इव न त्वमुपेतः
तेन सर्वभुवनातिग लोके नोपमानमसि नाप्युपमेयः ॥

त्वमन्तकः स्थावरजङ्गमानां त्वया जगत्प्राणिति देव विश्वम्
त्वं योगिनां हेतुफले रुणत्सि त्वं कारणं कारणकारणानाम् ॥

रक्षोभिः सुरमनुजैर्दितेः सुतैर्वा
यल्लोकेष्वविकलमाप्तमाधिपत्यम्
पाविन्याः शरणगतार्तिहारिणे तन्-
माहात्म्यं भव भवते नमस्क्रियायाः ॥ (किरा० १८/२२-३६)

इसके साथ ही कालिदास के अष्टमूर्तिसिद्धान्त को भारवि ने पुनः प्रतिष्ठित किया। वे लिखते हैं–

तरसा भुवनानि यो बिभर्ति ध्वनति ब्रह्म यतः परं पवित्रम्
परितो दुरितानि यः पुनीते शिव तस्मै पवनात्मने नमः ॥
भवतः स्मरतां सदासने जपिनि ब्रह्ममये निषेदुषाम्
ददते भवबीजसन्ततिं शिखिनेऽनेकशिखाय ते नमः ॥

आबाधामरणभयार्चिषा चिराय
प्लुष्टेभ्यो भव महता भवानलेन
निर्वाणं समुपगमेन यच्छते ते
बीजानां प्रभव नमोऽस्तु जीवनाय ॥

यः सर्वेषामावरीता वरीयान् सर्वैर्भावैर्नावृतोऽनादिनिष्ठः
मार्गातीतायेन्द्रियाणां नमस्तेऽविज्ञेयाय व्योमरूपाय तस्मै ॥

अणीयसे विश्वविधारिणे नमो नमोन्तिकस्थाय नमो दवीयसे
अतीत्य वाचां मनसां च गोचरं स्थिताय ते तत्पतये नमोनमः ॥

असंविदानस्य ममेश संविदां तितिक्षितुं दुश्चरितं त्वमर्हसि
विरोध्य मोहात्पुनरम्युपेयुषां गतिर्भवानेव दुरात्मनामपि ॥

(किरा० १८/३७-४२)

इस काल की दूसरी प्रसिद्ध रचना शिशुपालवध है। इसको देखने से पता चलता है कि श्रौत परम्परा की जो मान्यता भारतवर्ष में चली आ रही थी वह ही जनमानस को प्रिय थी। इतना अवश्य है कि जहां भारवि कालिदास की शैली का अनुवर्तन कर रहे थे वहाँ माघ ने भास की शैली का दर्शन के ढंग से प्रतिपादन किया। उदाहरणार्थ निम्न पद्य द्रष्टव्य हैं–

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयातिदुर्गमम्
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ॥

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥
निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥

अनन्यगुर्वास्तव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमावगम्यते
मनुष्यजन्मापि सुरासुरान्गुणैर्भवान् भवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥

(शिशु० १/३२-३५)

आदितामजननाय देहिनामन्ततां च दधतेऽनपायिने
बिभ्रते भुवमधः सदाथ च ब्रह्मणोप्युपरि तिष्ठते नमः ॥

केवलं दधति कर्तृवाचिनः प्रत्ययानिह न जातु कर्मणि
धातवः सृजतिसंहृशास्तयः स्तौतिरत्र विपरीतकारकः ॥

(शिशु० १४/६५-६६)

**जैनकाल—**

संस्कृत साहित्य से माध्यम से जैन सिद्धान्तों के प्रचार के लिए लिखे गये काव्यों की परम्परा में स्तोत्र साहित्य का सर्वप्रथम दर्शन होता है। पर बाद में लगभग १० वीं शताब्दी से महाकाव्यों का प्रणयन प्रारम्भ हो गया। निश्चित रूप से जैन साहित्य की परम्परा पर्याप्त लम्बे दिनों तक चली पर उसका प्रभाव सीमित क्षेत्र में था। धर्म के नाम पर विभक्त समाज की सहृदयता को तुष्ट करने के लिए लिखे गये इन काव्यों के नायक प्राय: तीर्थङ्कर या सेठ आदि होते थे। इसलिए वृहत् समाज की उन आवश्यकताओं को पूर्ण करने में ये काव्य उतने समर्थ नहीं बने, जिनकी उद्भावना कालिदासादि ने कर ली थी। फिर भी यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि जैन साहित्यिकों का प्रयत्न श्लाघ्य रहा। अन्यथा बौद्ध साहित्यिकों की भाँति वे भी चुप वैठ जाते। जहाँ तक जैन धर्म के प्रचार का प्रश्न है साहित्य की अपेक्षा जैनियों की आचार परम्परा ने ही अधिक सफलता प्राप्त की। जैन साहित्य की परिपाटी पुरानी ही थी पर विषय नये थे। उपमानादि का विधान पुराना ही था। इसलिए सामान्य जनमानस ने इसको पर्याप्त मान्यता नहीं दी। उदाहरण के रूप में कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं, जिनमें पूर्व कवियों की शब्द योजना को प्रश्रय दिया गया है पर सम्पूर्ण भावोपस्थिति में शक्ति नहीं है।

१— अथ प्रजानामधिप: प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच। (रघु० २/१)

अथ प्रजानां नयनाभिरामो लक्ष्मीलतालिङ्गितसुन्दराङ्ग:
वृद्धिं स पद्माकरवत्प्रपेदे दिनानुसारेण शनैः कुमारः॥ (चन्द्र० ४/१)

प्रजानामधिप: के साम्य पर लिखा गया यह श्लोक यदि दिन और पद्म की सहस्थिति से चमत्कार लाता तो अधिक आवर्जक होता। दिनानुसार और पद्माकर की वृद्धि में कोई चमत्कार नहीं है।

२— जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम्
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपते: शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे॥ (रघु० ३/१६)

तुष्टया ददत्स्वसुतजन्म निवेदयद्भ्यो
देयं न देयमिदमित्यथवा क्षितीशः
नाजीगणत्प्रमदविह्वलचित्तवृत्ति-
र्विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न बिचारदक्षम्॥ (चन्द्र० ३/७३)

यहां प्रथमश्लोक में 'अदेयमासीत् त्रयमेव' के द्वारा जिस भाव का प्रतिपादन किया गया है उसे 'देयं न देयम् इति नाजीगणत्' से कहना कविकौशल के पार्थक्य को पर्याप्त स्पष्ट करता है।

३– दिश: प्रसेदुर्मरुतो ववु: सुखा: प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निमाददे
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय वर्तते ।। (रघु० ३/१४)
ककुभ: प्रसेदुरजनिष्ट निखिलममल नभस्तलम्
तस्य जननसमये पवन: सुरभिर्ववौ सुरभयन् दिगङ्गना: ।। (चन्द्र० १७/२)

यहां प्रथमश्लोक में अर्थान्तरन्यास के द्वारा पुष्ट वातावरण के वर्णन में प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निमाददे के द्वारा जिस प्रकार सिद्धान्त की स्थापना की गई है उस प्रकार द्वितीय श्लोक में नहीं है। वहां केवल वर्णनमात्र है तथा दिगङ्गना पद के द्वारा जैनसिद्धान्त की पुष्टि भी नहीं हो रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन संस्कृत साहित्य अपने लक्ष्य में साहित्य की उस कोटि को नहीं प्राप्त कर सका जो अपेक्षित था। तथापि वह पर्याप्त सफल रहा। भावजगत् का विश्लेषण एवं मानवता की रक्षा में जैनसाहित्य ने पर्याप्त योगदान करके साहित्य की दार्शनिकता को अक्षुण्ण रखा।

## श्रीहर्षकाल–

यह हम देख चुके हैं कि जैनसाहित्य के द्वारा नायक के प्रतिमान में परिवर्तन से जनमानस को थोड़ी ठेस पहुंची थी तथा उपमानादि में कोई नूतनता नहीं थी। ऐसे समय में श्रीहर्ष ने साहित्य को अपनी पुरानी लीक पर लाने के लिए कथा के औचित्य के प्रतिपादन के साथ श्रौतपरम्परा की पुन: स्थापना की। वे लिखते हैं––

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ।। (नैष० १/३)

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे
श्रद्धां दधे निषधराड् विमतौ मतानाम्-
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोक: ।। (नैष० १३/३६)

श्रीहर्ष ने अपने नैषधीयचरित में विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों का निरूपण किया है पर उनका झुकाव वेदान्तदर्शन की ओर अधिक है। इससे उस काल की रुचि का पता

चलता है। साहित्यदर्शन की मान्य परम्परा से हटने का दोष श्रीहर्ष पर नहीं आ सकता है क्योंकि शब्दार्थशरीर साहित्य का जितना विश्लेषण इन्होंने किया है, शायद ही किसी ने किया हो। पर इतना अवश्य है कि कालिदास का प्रसाद इनमें नहीं है।

संक्षेप में इस विवेचना के बाद में हम देखते हैं कि भारतीय साहित्य ने किसी न किसी प्रकार श्रौतपरम्परा का ही पालन किया है। प्रतीक नाटकों, गीतगोविन्द जैसे ग्रन्थों तथा स्तोत्ररूप रचनाओं से यह सिद्धान्त पर्याप्त पुष्ट हो जाता है।

## साहित्य की विशेष दृष्टि—

'साहित्यदर्शन की मूलप्रवृत्ति मानवता की रक्षा तथा भावजगत् को समझना है' ऐसा बताया जा चुका है। मानवता की रक्षा का मूलमन्त्र है - आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्– जो अपने को अच्छा न लगे वह दूसरों के लिए न करे। हम देखते हैं कि अन्य दर्शन जगत् की उत्पत्ति, उसका कर्ता, उसकी स्थिति और उपादान कारणादि तथा पुनर्जन्म एवं मोक्ष आदि विचारों में व्यस्त रहते हैं। ऐसा करने में उनका हेतु है जगत् को दुःखमय मानना तथा आधिदैविक आधिभौतिक एवम् आध्यात्मिक दुःखों से छुटकारा पाना। पर एक बार उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि ऐसे दुःखमय जगत् को बनाने में उसके कर्ता का कौन सा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है अथवा यदि जगत् मिथ्या है तो इतना हायतोबा मचाने की क्या आवश्यकता है। सच तो यह है कि यह कृतघ्नता की कोटि है जहां जगत् का भोग तो किया जाय, धर्मार्थ काम की प्राप्ति की जाय तथा मोक्ष में मन को लगाया जाय पर उस परमपिता की इस जगत् रूप कृति का आकलन ही न किया जाय। साहित्यदर्शन इस कमी को पूरा करता है। परमेश्वर की इस अनुपम कृति के विभिन्न पहलुओं को देखकर साहित्यदर्शन इसके कर्ता उसकी कृति के वैचित्र्य पर मुग्ध हो जाता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि **रचनाकार की रचना की वास्तविक प्रशंसा करना उसकी तुष्टि का सर्वोत्तम उपाय है** तथा उससे अपनी कृतघ्नता का भी परिहार होता है। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्यों जैसे पद्यों को देखना चाहिये।

(क) जीवन में अद्वैतवादी पर साहित्य के अनन्य भक्त मधुसूदन सरस्वती अपने को अद्वैतवादियों से कुछ दूर करते हुये जगत्कर्ता के अनुपम अवतरित रूप को देखकर कहते हैं—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्यास्तृणीकृताखण्डलवैभवाश्च
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

(ख) वे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' वादियों से कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ।।

(ग) परमेश्वर को व्यापक, एक, वाणी से अकथनीय, ध्यानागम्य, बुद्धि से परे तथा अजन्मा कहने वालों की कर्त्तव्यशैली की मीमांसा करते हुये साहित्यदर्शन के पण्डित अब्दुर्रहीम खानखाना कहते हैं—

यद् यात्रया व्यापकता हता ते भिदैकता वाक्परता च नुत्या
ध्यानेन बुद्धेः परता परेश जात्याजता क्षन्तुमिहार्हसि त्वम् ।।

(घ) नामी की नाम सम्पत्ति पर अपनी भावना व्यक्त करते हुये पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोर्द्वयोर्मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ।।

(ङ) जगत् के वैचित्र्य को देखकर उसके कर्ता के प्रति आश्वस्त होकर दुःख-विघात के लिए किसी भी प्रयत्न के प्रति अनातुर कवि कहता है—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः
मयूराश्चित्रिता येन स मे वृत्तिं विधास्यति ।।

(च) वेदान्तशिरोमणि पर साहित्य के अनुपम प्रयोक्ता शङ्कराचार्य का कहना है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि
प्रणन्तु स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ।।

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासूतेश्चन्द्रोपललवजलैरर्घ्यरचना
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधिसौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम् ।।

(छ) परमेश्वर की निरुपपकृति मानव में निहित कारुण्य को दिखाने की इच्छा से भवभूति राम के द्वारा कहलाते हैं--

रे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्
रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटो करुणा कुतस्ते ।।

(ज) जिस ईश और उसकी शक्ति का विलास यह संसार है उस विलास के आधारभूत दाम्पत्य पर भवभूति का विचार है--

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस:
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ।।

(झ) वातावरण में परिवर्तन के लिए कारणीभूत ऋतुओं को भी साहित्य भूलता नहीं है, अपितु, मानव जैसा देखता है । पाणिनि कहते हैं--

क्षपां क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम्
क्व सम्प्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरा-
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदा: ।।

शरद् और वसन्त के विषय में कालिदास की अनुभूति है—

कासांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या
आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टि: प्राप्ता शरन्नववधूरिवरूपरम्या ।।

द्रुमा: सपुष्पा: सलिलं सपद्मं स्त्रिय: सकामा: पवन: सुगन्धि:
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्या: सर्वं प्रियं चारुतर वसन्ते ।।

(ञ) प्रकृति की नैसर्गिक व्यवस्था को मानवीय दृष्टि से देखने वाला साहित्यकार कहता है—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपिरागाद् गलितं न लक्षितम् ।।

(ट) प्रथममिलन की मनःस्थिति पर हर्षवर्द्धन का विचार है--

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ।।

(ठ) दार्शनिकों के द्वारा सर्वथा निन्द्य पर साहित्यदर्शन में प्रशंसित व्यवस्थित परकीयात्व पर व्यास का विचार है--

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।

(ड) इस प्रसङ्ग में यह भी द्रष्टव्य है कि स्वानुभूत मान्यता के आधार पर साहित्य दार्शनिक-असफलताओं का स्पष्ट चित्रण करता है। प्रातःकाल पूर्व में सूर्य का उदय, पश्चिम में चन्द्र का दर्शन तथा उसी समय दशरथ के विशाल प्राङ्गण में नील-सरोरुहश्याम राघवेन्द्र को ठुमक ठुमक घूमते देखकर अपनी सखी के प्रति एक स्त्री की भावना का दिग्दर्शन कराते हुये कवि कहता है—

नीलं तमश्चलति नो चलतीति वादे
नैयायिका न चलतीति मुधा वदन्ति
दृष्टं मया सुललितं सुमनोभिरामं
नीलं महश्चलति नीलतमोऽपकुर्वत् ।।

(ढ) कहाँ दुःख से त्रस्त विभिन्न दार्शनिक तथा कहाँ साहित्यदर्शन का स्वस्थ उपासक। इनमें बहुत अन्तर है। अपने जीवन की उपयोगिता के विषय में साहित्य-दर्शन का एक प्रयोक्ता जगज्जननी से कहता है--

वपुस्तस्मादामो घट इव तवाग्रे निदधता
मया सम्यक्पूर्णं विनशनकरैः कर्मसलिलैः
कथंचिन्न प्राथ्यी कुघटविधृतिः किन्तु गिरिजे
पिपासां मर्त्यानामपनयतु नीरं स्रवदितः ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्यदर्शन उस अपूर्णता को दूर करता है, जिसकी ओर किसी दर्शन का ध्यान ही नहीं था। वस्तुतः 'कीरति भनिति भूति भल सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई।

**समापन--**

इस सामान्य विवेचना के अनन्तर यह कहना सुकर हो जाता है कि विभिन्न विचारों से परिपुष्ट साहित्यदर्शन अपना एक विशेष स्थान रखता है। यहाँ यह भी जानना चाहिये कि साहित्य का क्षेत्र बहुत विशाल है। नये विचारों के लिए इसका द्वार खुला है। इसके प्रमेय की इयत्ता नहीं है। केवल एक प्रसङ्ग की चर्चा करके विषय को समाप्त करना अच्छा रहेगा। आजकल 'राष्ट्रभाव' शब्द की बहुत चर्चा होती है और कहा जाता है कि दार्शनिक मान्यताओं में इसकी कोई चर्चा नहीं होती है। भला किसी एक सिद्धान्त के मानने के लिए ही मोक्ष का द्वार खुला मानने वाले राष्ट्र-भाव का मूल्य समझ पायेंगे ? पर साहित्यदर्शन अति प्राचीन काल से कहता चला आ रहा है--'माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या:' (अथर्ववेद)। यह विचार किसी एक राष्ट्र की भावना से कहीं ऊँचा है। 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' लिखने वाले राष्ट्रभाव से अधिक अच्छा विचार रखते थे। एक राष्ट्र में ही मानवता बचाने लिए उत्सुक किन्हीं लोगों से कहना कुछ कठिन है पर जहाँ तक भारतीय साहित्य का प्रश्न है, उसने तथाकथित इस नई सूझ पर भी अपनी मुखरता दिखाई है : वह कहता है--

वन्दे मातरम्  
सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्  
सस्यश्यामलां मातरं वन्दे।

इसीकाल में लिखी गई एक कविता में, जो मनु के अनुसार 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' के आदर्श पर है, भारत का स्वरूप दिया गया है--

जन गण मन अधिनायक जय हे भारतभाग्यविधाता  
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा द्राविड़ उत्कल वंगा  
विन्ध्य हिमाचल यमुना गङ्गा उच्छल जलधि तरंगा  
तव शुभ नामे जागे तव शुभ आशिष माँगे  
गाहे तव जय गाथा।  
जन गण मंगल दायक जय हे भारत भाग्य विधाता।

पर यहाँ ही मौन होना अच्छा नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि साहित्य, दर्शन, धर्म तथा इतिहास को एक ही स्थान पर देखने वाला साहित्य का सेवक कुछ विचित्र-भाव रखता है जब वह कहता है--

यस्याङ्घ्रिसेवनमहो निजजन्मसारं
लङ्कापतिर्दशमुखो नितराममंस्त
यस्यास्ति गाङ्गजलपूर्णजटा हिमाद्रि–
र्देव: स भारतवपुर्जयताद् गिरीश: ।।

यस्त्रायते निजजनान् सहजाम्बुदानात्
सिन्धवब्जयोनिसुतबाहुयुगे प्रसार्य
पीडामवर्षणकृतामपनेतुकामो
देव: स भारतवपुर्जयताद् गिरीश: ।।

यस्याधिहृत्प्रतिपलं विचकास्ति काशी
वागर्थविग्रहमयो रमतेऽपि यस्याम
मालां विधाय सरितं त्रिदशैरभीष्टां
देव: स भारतवपुर्जयताद् गिरीश: ।।

रेवां विधाय रशनां खगकूजिताढ्यां
विन्ध्यं कटिं दृढतरं ललितं च बद्ध्वा
यस्ताण्डवं प्रकुरुते भृशमुज्जयिन्यां
देव: स भारतवपुर्जयताद् गिरीश: ।।

प्राच्यप्रतीच्यदिशि यस्य पदारविन्दं
सम्यक्स्थितं दरदसह्यमयं समुद्र:
धृत्वा करोति सफलं निजजन्म नित्यं
देव: स भारतवपुर्जयताद् गिरीश: ।।

विद्या कदाचिदपि येन कृता न गुप्ता
बद्धोऽपि योऽस्ति नहि धर्मविशेषबन्धै:
शब्दानुशासनविधिं समशिक्षयद् यो
देव: स भारतवपुर्जयताद् गिरीश: ।।

नग्नो वसन्ननुभवन् सहजानुरागं
दाम्पत्यसौख्यमनुभावयति प्रियां य:
आध्यात्मिकीं समनुशीलयति प्रवृत्तिं
देव: स भारतवपुर्जयताद् गिरीश: ।।

दीक्षाप्रियान् स्वशरणं समितान् कृतघ्नान्
बुद्ध्वापि य: प्रकुरुते न विदूरगान्तान्
शीलव्रतैकनिपुणो जगतां गुरुर्यो
देव: स भारतवपुर्जयताद् गिरीश: ।।

धूर्तैः शठैरनुदिनं छलितोऽपि कृत्यं
विस्मृत्य तत्कृतमहो भवति प्रवृत्तः
कर्तुं ञ्चतान् व्यवसितान् य इहाशुतोषो
देवः स भारतवपुर्जयताद् गिरीशः ॥
मानो भवेद यदि भवेदपमान एव
चिन्तां करोति नहि यो विषयेस्वकीये
धर्मावरक्षणधिया क्रतुनाशकारी
देवः स भारतवपुर्जयताद् गिरीशः ॥
पूज्यं प्रजापतिमपि स्वपथादधोगं
दक्षं प्रशासकमपि स्वनियोगशून्यम्
धीर्यस्य दण्डयितुमत्र मनाङ्न रुद्धा
देवः स भारतवपुर्जयताद् गिरीशः ॥
क्षीणं जनं विधुमिवाददते स्वभाले
प्राज्ञोऽपि मूढ इव दर्शयते स्वरूपम्
निन्दाविषं पिबति लोकहितेच्छया यो
देवः स भारतवपुर्जयताद् गिरीशः ॥
जिज्ञाय जेष्यति सुशिक्षितसंहितानां
व्यर्थं कदर्थनकृतां प्रबला रिपूणाम्
अक्षौहिणीः प्रमथभूतगणैः समं यो
देवः स भारतवपुर्जयताद् गिरीशः ॥

मानवों की बुद्धि में भेद उत्पन्न करने वाले अन्य दर्शन दो हृदयों के मध्य में एक ऐसी अदृश्य भित्ति खड़ा करते हैं, जिससे दोनों मिल नहीं पाते हैं पर साहित्यदर्शन उनको मिलाने का साधन उत्पन्न करता है। इसीलिए वह कहता है—

अलं भारतीया मतानां विभेदै-
रलं देशभेदेन वैरेण चालम्
अयं शाश्वतो धर्म एको धरायां
न सम्भाव्यते धर्मतत्त्वेषु भेदः ॥

स्वर्गौकोभिरदोनिवासिपुरुषारब्धातिशुद्धाध्वर-
स्वाहाकारवषट्कृतोत्थममृतं स्वादीय आदीयते
आम्नायप्रवणैरलङ्कृतिजुषेऽमुष्यै मनुष्यैः शुभै-
र्दिव्यक्षेत्रसरित्पवित्रवपुषे देव्यै पृथिव्यै नमः ॥

—:०:—

जमुईपण्डितग्रामे गोरखपुरमण्डले
वसतो ग्रन्थकारस्य ग्रन्थः स्याद् बुधहर्षदः ।



## संस्कृत-सेवा-संस्थान

## के

## प्रकाशन

- महाभाष्यम् (प्रथमाह्निक)
- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (कारक प्रकरण)
- अभिनवा स्तुतिः
- मूषकवैदुष्यम्
- भारतीय दर्शनपरम्परा और साहित्यदर्शन